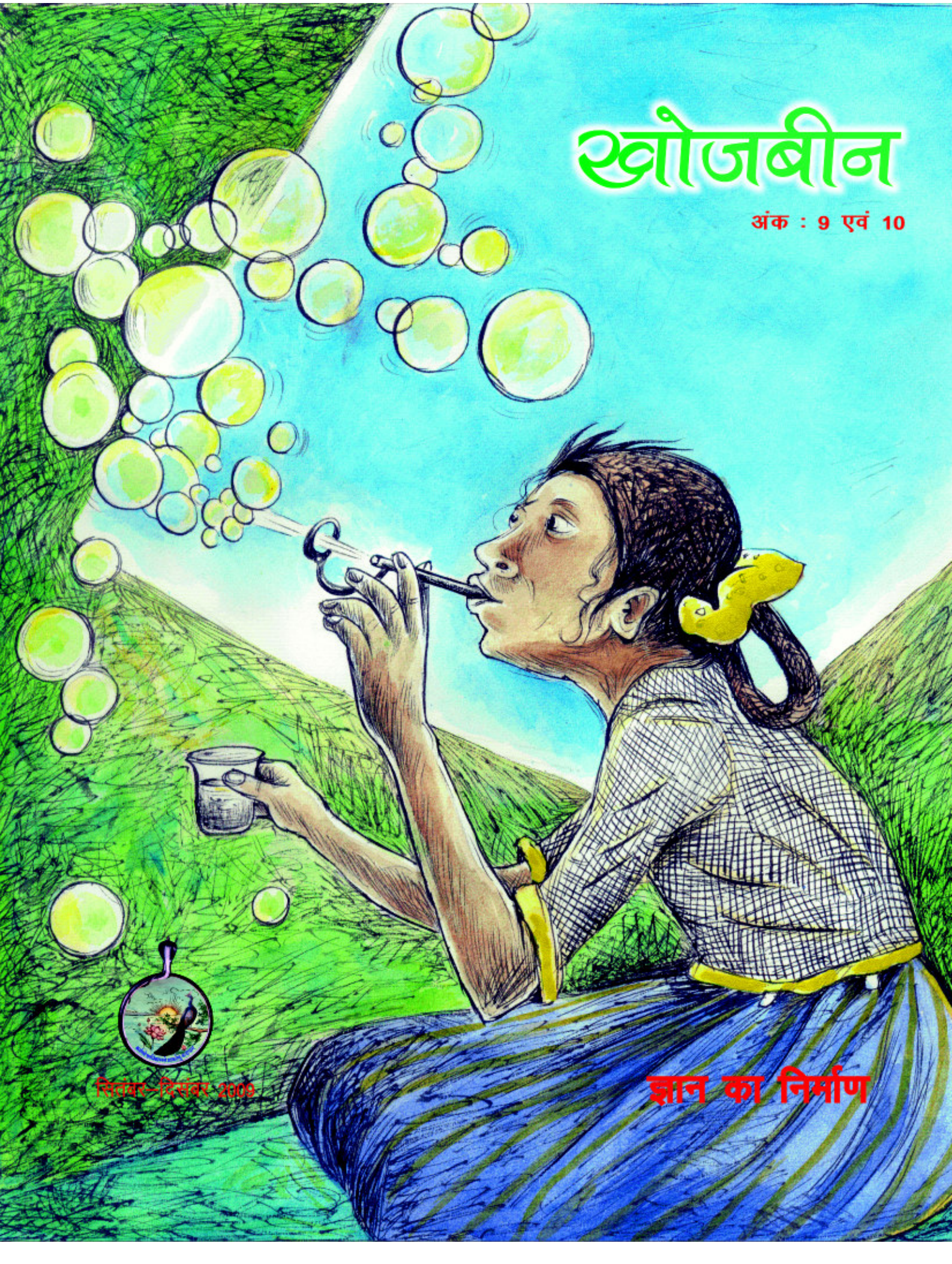
खोजबीन
अंक : 9 एवं 10
सितंबर–दिसंबर 2009
ज्ञान का निर्माण

खोजबीन

अंक–9 एवं 10

सितंबर–दिसंबर–2009

इस अंक में पढ़िए

संपादकीय		1
व्याख्यान–पद्धति	**गिजुभाई**	2
स्वयंशिक्षण–पद्धति		5
क्या बच्चे सीखने को उत्सुक हैं?	**एलएमटी**	7
शिक्षा और ज्ञान	**कृष्ण कुमार**	16
ज्ञान का निर्माण एक अंतःक्रियात्मक उद्यम के रूप में	**तिस्ता बागची**	27
निर्माणवाद किस चिड़िया का नाम है?	**हृदय कांत दीवान**	33
निर्माणवादी कक्षा में शिक्षक की भूमिका	**दया दवे**	38
शिक्षा में निर्माणवाद	**अनिल कुमार जैन**	42
कैसे पढ़ाएं बच्चों को?	**ए.के. पालीवाल**	45
निर्माण वाद कहीं हौवा तो नहीं?	**साधना सक्सेना**	47
कैसे पढ़ाएं भौतिक शास्त्र?	**विजय एस. वर्मा**	58
घट–घट में बसा है ज्ञान...	रोहित धनकर	67
एक शंख बिन कुतुबनुमा	**शरद जोशी**	73
सीखना और ज्ञान	एनसीएफ	76
तोता कहानी	रवीन्द्रनाथ	80
मशविरा		83

सहयोग राशि : संयुक्त अंक : पचास रुपए, वार्षिक : व्यक्तिगत– एक सौ पचास रुपए, संस्थागत– तीन सौ रुपए मात्र
(चैक या बैंक ड्राफ्ट – **विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के नाम बनवाएं।**)

परामर्श एवं प्रबंध
हृदय कांत दीवान

संपादक
के.आर. शर्मा

संपादन सहयोग
गिरीश शर्मा
कुमार अनुपम
भागचंद्र कुमावत

चित्रांकन
प्रशांत सोनी

ले–आउट
इसरार अहमद

रचनाएं भेजने और पत्र–व्यवहार के लिए संपर्क करें
विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, फतहपुरा, उदयपुर (राज.)
email : vbsudr@yahoo.com, फोन : 0294–2451497

सौजन्य : आईसीआईसीआई (सेंटर फॉर एलिमेंट्री एज्यूकेशन) के सहयोग से।

संपादकीय

आख़िर नाम में क्या रखा है?

शिक्षा में निर्माणवाद को लेकर आजकल काफी चर्चाएं हो रही है। अलग–अलग तरह की बातें सुनने को मिल रही हैं। शिक्षा के महकमे में और शिक्षक प्रशिक्षणों में निर्माणवाद को लेकर मंत्रबाज़ी शुरू हो चुकी है। मगर सही मायनों में निर्माणवाद क्या है, इस पर कम ही चर्चा हो पा रही है। और इससे भी अहम सवाल कि निर्माणवादी कक्षा का ढांचा क्या हो? कैसे शिक्षण का ताना–बाना रचा जाए? निर्माणवादी नज़रिए के तहत शिक्षक और बच्चों के रिश्ते कैसे हों?

यह भी कहा जा रहा है कि निर्माणवादी नज़रिए में शिक्षक की भूमिका कम हो जाएगी। और बच्चे को ख़ुद को ज्ञान के निर्माण करने की छूट दे दी जाएगी। बच्चा जो भी करे उसको मान्यता दे दी जाए। क्या इस बात को हम स्वीकार कर लें? या कि शिक्षक की भूमिका शैक्षिक रूप से ज़्यादा अहम होनेवाली है?

आख़िर हमें निर्माणवाद की ज़रूरत क्यों है? इस सवाल की छानबीन करें तो पाएंगे कि असल में हमारे यहां जिस प्रकार से स्कूलों में बेमन से बच्चे शिक्षण पाते हैं वह उनको सीखने में और समझ पैदा करने में सक्षम नहीं है। स्कूल में शिक्षक को कोर्स पूरा करना है, और एक मशीनीकृत तरीक़े से पढ़ाई तो होती है मगर वहां सीखना नदारद है। बच्चे कतारों में बैठे हैं। बच्चों को अपने विचारों को व्यक्त करने की आज़ादी नहीं है। उनको सवालों को पूछने की छूट नहीं है। अपनी बात कहने की छूट नहीं है। या यों कहें कि स्कूल का अर्थ ही यह लगा लिया गया कि जहां शिक्षक ही सब कुछ है, किताबें ही सब कुछ है, किताबों में जो कुछ भी लिखा गया है वह पत्थर की लकीर है। जो किताब में लिखा गया है उसी भाषा में शिक्षक कक्षा में बोलने को मज़बूर हैं।

बच्चों को जो मज़ा खेलने में आता है वैसा कक्षा में पढ़ते वक्त क्यों नहीं आता? बच्चा अपने आसपास की चीज़ों को लेकर अचरज करता है, वैसा अचरज स्कूल की कक्षा में पढ़ते वक़्त क्यों नहीं करता? बच्चा जब चलना सीखता है तो वह कितनी ही बार गिरता है और फिर से खड़ा होता है और...। बच्चा साइकिल चलाते वक़्त जितना जूझता है उतना जूझने के मौक़े कक्षाओं में क्यों नहीं मिलते? इससे भी बढ़कर एक अहम सवाल यह भी है कि आख़िर ज्ञान क्या है? क्या ज्ञान एक प्रकार का भंडार है जो स्कूलों के ज़रिए बच्चों तक पहुंचता है? या कि ज्ञान हरेक के घट–घट में बसा हुआ है?

इन्हीं सवालों के जवाब ढूंढ़ने की एक कोशिश खोजबीन के इस अंक में की जा रही है। बच्चों के सीखने को लेकर आपके क्या अनुभव रहे हैं, आप ज़रूर लिख भेजें।

सम्पादक

व्याख्यान–पद्धति

गिजुभाई

गिजुभाई ने प्राथमिक शाला में प्रचलित शिक्षा पद्धतियों पर अपनी पैनी दृष्टि दौड़ायी है। इसके गुण–दोषों से परिचय भी कराया है। स्वयं शिक्षण पद्धति की वकालत उन्होंने इस आधार पर की है कि इस पद्धति में बच्चे को खुद से ज्ञान निर्माण के भरपूर अवसर हैं जो उसके अनुभव पर आधारित होगा। व्याख्यान–पद्धति को प्राथमिक स्तर के बच्चों के लिए अनुपयोगी बताया है जबकि उच्च शिक्षा में कुछ हद तक चलने योग्य बताया है।

पुरानी और सड़ी–गली पद्धतियों में व्याख्यान पद्धति अर्थात् उपदेशात्मक पद्धति का अपना अग्र स्थान रहा है। आजकल हमारे विद्यालयों में अधिकतर इसी पद्धति से शिक्षा का काम चल रहा है जब सरकार ने इस देश में शिक्षा संबंधी रीति–नीति का एक पैमाना तय किया, तो विलायत में जो शिक्षा–पद्धति पुराने समय ये चली आ रही थी, उसी को इस देश में भी चलाया गया। इसलिए वहां इसकी जड़ें बहुत गहरी जमी हुई थी। अब विलायत में इस पद्धति को बड़ी हद तक तिलांजलि दी जा चुकी है, किन्तु अपने इस देश की शिक्षा की गाड़ी तो बहुत धीमी गति से चलती है। इस गाड़ी को चलानेवाला व्यक्ति न तो कोई ज़िम्मेदार व्यक्ति है, और न ही इस काम में कोई दिलचस्पी ही है। मतलब यह है कि यह सड़ी–गली पद्धति

लगभग अपने मूल रूप में, अपने सारे दोषों के साथ, हमारे देश में टिकी हुई है, और हमारे बालक इसके शिकार बने हुए हैं।

व्याख्यान–पद्धति का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है: इस पद्धति में शिक्षक शिष्य के भोजन को ख़ुद चबा देता है, और फिर शिष्य उसको रुचि–पूर्वक खाता है, इसका मतलब यह हुआ कि इस पद्धति में शिक्षक शिष्य के बदले उसके सारे काम करता रहता है, और शिष्य स्वयं बिना कुछ किए ही शिक्षा का परिणाम–भर बटोरता है। इसका नतीज़ा यह निकलता है कि जहां शिष्य को स्वयं ही कुछ करना चाहिए, जहां शिष्य को ख़ुद ही सोचना और समझना चाहिए, वहां शिष्य के बदले शिक्षक ही सब कुछ करता है। यदि हम इस स्थिति पर विचार करते हैं तो हमारे ध्यान में यह बात आती है कि इसमें शिक्षक की भूमिका नौकर की और शिष्य की भूमिका सेठ की बन जाती है, क्योंकि इसमें शिक्षक शिष्य के लिए सब कुछ करता है, और शिष्य तो आराम के साथ बैठा–बैठा सुनता भर है। जिस तरह कोई पिता अपने बालक के बदले उसका भोजन ख़ुद ही चबाकर उसके पेट में डालता है, और उसको पोषण देने का हास्यास्पद और व्यर्थ प्रयत्न करता है, उसी तरह इस पद्धति में शिक्षक शिष्य के बदले सब कुछ करके उसके दिमाग़–रूपी पेट में ज्ञान–रूपी ख़ुराक पहुंचाने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। इस पद्धति में शिक्षक शिष्य को सिखाता ही रहता है, किन्तु शिष्य शिक्षक से कुछ नहीं सीखता है। शिक्षक हमेशा अपने काम का हिसाब भी इसी तरह लगाता है कि उसने अपने शिष्य को क्या सिखाया, और अपने शिष्य के दिमाग़ में उसने कौन–कौन सी चीज़ें ठूंस दीं। शिष्य ने ख़ुद क्या सीखा, इसका कोई हिसाब शिक्षक के पास रहता नहीं है।

इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें विद्यार्थी को जितनी भी बातें मुंह से बोलकर और कान से सुनाकर सिखाई जा सकती हैं, उतनी तो बोलकर ही सिखाई जाती है। बोलने के अलावा दूसरी कोई अच्छी, सादी और सरल रीति हो भी, तो वह इसमें निकम्मी मानी जाती है। शिष्य स्वयं अपने अनुभव से जिन बातों को जान सकते हैं, यदि उनको मुंह से बोलकर याद रखवाया जा सकता है, तो उतना काफ़ी है। इस पद्धति का यह एक सूत्र ही है। यह पद्धति केवल कान की इन्द्रिय का उपयोग करती है। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी केवल कान के द्वारा ही ज्ञान पाना सीखते हैं। इसके कारण उनकी दूसरी इन्द्रियों का विकास रुक जाता है, और विद्यार्थियों की स्मरण–शक्ति पर हद से अधिक बोझ आ पड़ता है।

इस पद्धति से काम करनेवाले शिक्षक अपने विद्यार्थियों से एकाग्रता की अधिक आशा रखते हैं। वे यह मान कर अपने मन में संतुष्ट रह लेते हैं कि अपने विद्यार्थियों से वे जो भी कुछ कहते हैं, सो सब विद्यार्थी समझ लेते हैं। सिखाए जानेवाले विषय के प्रति विद्यार्थियों में कोई रुचि न होने पर भी चूंकि सिखाने या पढ़ाने की रीति का सारा आधार एकाग्रता होती है, इसलिए शिक्षक विद्यार्थियों में एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए तरह–तरह के प्रयत्न करते रहते हैं। ये सज़ा और इनाम के, दण्ड और लालच के निरर्थक और हानिकारक साधनों का भी उपयोग करते हैं। संक्षेप में, यह पद्धति नाना प्रकार के प्रयत्नों द्वारा, स्मरण शक्ति पर भारी बोझ डालकर, शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान–रूपी धन की विरासत को बिना किसी परिश्रम के विद्यार्थियों को सौंपने का प्रयत्न करती है।

इस पद्धति द्वारा दी गई शिक्षा के फलस्वरूप मनुष्य ज्ञान की एक जड़ तिजोरी भर बनकर रह जाता है। इसमें संदेह नहीं कि उसका मस्तिष्क एक ज्ञान–कोश का सा रूप ले लेता है। किन्तु चूंकि यह ज्ञान निष्क्रिय बना रहता है। इसलिए यह निरुपयोगी होता है। चूंकि ज्ञान प्राप्त करते समय ज्ञान पानेवाला व्यक्ति स्वयं ज्ञान की खोज करके उनको प्राप्त नहीं करता है, इसलिए वह स्वयं उसका उपयोग भी नहीं कर पाता। यही कारण है कि आजकल के कई बहुत पढ़े–लिखे लोग भी बहुत पिछड़े हुए पाए जाते हैं। चूंकि इस पद्धति में सुन–सुनकर सीखने की व्यवस्था है, इस कारण इसमें विद्यार्थी अधिकतर सुनना ही सीखते हैं। चूंकि इसमें विद्यार्थी को अनुभव और प्रयोग द्वारा सीखने का कोई अवसर नहीं मिलता, इसलिए उसका ज्ञान तोते का–सा ऊपरी ज्ञान होता है, और उसकी बुद्धि का बहुत कम विकास हो पाता है। इस पद्धति में प्रयोगों के लिए कोई स्थान न होने के कारण, नए–नए प्रयोगों का अनुभव न होने से, और प्राप्त ज्ञान का कोई उपयोग न होने के कारण स्वयं विचार

करने की विद्यार्थी की शक्ति अविकसित रहती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि पढ़ा–लिखा आदमी भी तोते की कहानीवाले तोते की तरह ठूंसे हुए दिमाग़वाला बन जाता है। यही कारण है कि अपने इस देश में शिक्षा के फलस्वरूप नई–नई बातें खोजने और नई चीज़ें पैदा करनेवाले बहुत कम आदमी तैयार होते हैं। हमारे देश में बिलकुल नए रास्तों की खोजकर सकनेवाले, नये साधनों की खोज करके उनका उपयोग करनेवाले, स्वतंत्र विचारों की अपनी नई दुनिया रचनेवाले, साहसी, व्यक्ति, इतिहासकार शोधक, आविष्कारक और स्वतंत्र विचारक बहुत कम हुए हैं, इसका एक कारण शिक्षा के क्षेत्र में चली यह व्याख्यान पद्धति भी है।

इस पद्धति की हिमायत करनेवाले कहते हैं कि इससे कक्षाओं की व्यवस्था और समय की व्यवस्था के प्रश्न हल हो जाते हैं। थोड़े समय में बहुत से विद्यार्थियों को बहुत कुछ पढ़ा देने की दृष्टि से यह पद्धति बहुत उपयोगी है। निश्चय ही इस कथन में थोड़ी बहुत सच्चाई तो है ही। किन्तु ज्ञान–प्राप्ति की जिन पद्धति से बुद्धि का विकास रुकता हो, वह पद्धति थोड़े ही समय में ज्ञान की सारी विरासत सौंप देने की शक्ति रखती भी हो तो उससे लाभ क्या?

पूरी–पूरी और प्रशंसनीय तैयारियों के साथ शिक्षक विद्यार्थियों को कोई भी विषय बहुत स्पष्ट रीति से सिखा दें, जब तक बात उनके गले न उतरे, तब तक वे उनको बराबर समझाते रहें, समझाने के लिए उनके साधनों का, जैसे श्यामपट्ट, पुस्तकें, वस्तुएं, नक़्शे, शब्दकोश और चित्रों आदि का भरपूर उपयोग करें, विद्यार्थियों के लिए सब कुछ सरल, समझने लायक और याद रहने लायक बना दें और फिर वे विद्यार्थियों से कहें कि दूसरे दिन विद्यार्थी सब कुछ याद करके आएं। इतना सब कुछ करने के बाद भी विचारणीय प्रश्न ये रह जाते हैं कि बुद्धि के विकास की दृष्टि से विद्यार्थी इसमें कितने आगे बढ़ते हैं, उनकी स्मरण शक्ति को कितना लाभ होता है, अथवा उस पर कितना अवांछनीय बोझ पड़ता रहता है? यहां यह प्रश्न बहुत गम्भीर और विचारणीय है कि सिर्फ़ बैठे–बैठे सुनते रहने में और सुनी हुई और समझी हुई चीज़ को याद रख लेने में शिक्षा की अपनी सार्थकता क्या है?

आजकल हमारे विद्यालयों में व्याकरण, भाषा, कविता, इतिहास, भूगोल आदि विषय लगभग इसी पद्धति से पढ़ाए जाते हैं। इसलिए हम इनके परिणामों से अपरिचित नहीं है। ग्रामोफ़ोन की नली में से जैसे गीत निकलते हैं, वैसे ही विद्यार्थी रूपी रेकार्ड उनको भली–भांति पकड़कर जब भी ज़रूरत पड़ती है, गाकर दिखा देते हैं। यह सब परीक्षा के दिन तक के लिए ही होता है। इसमें रेकार्ड का उपयोग कितना हुआ? रेकार्ड को कितना लाभ पहुंचा? इसके कारण व्यक्ति की कितनी उन्नति हुई? उसका कितना विकास हुआ? इसके फलस्वरूप उसको शिक्षा क्या मिली? ये सारे सवाल सहसा उठते हैं।

चूंकि यह पद्धति हर तरह से ख़राब है, इसलिए यह छोड़ देने लायक है। विशेष रूप से प्राथमिक और बड़ी हद तक माध्यमिक विद्यालयों में से तो इसको निकल ही जाना चाहिए। हमारे दिलों में से यह लालच खतम हो जाना चाहिए कि इस पद्धति से काम जल्दी होता है। इस पद्धति के बदले हमको कोई ऐसी पद्धति अपनानी चाहिए, जो विद्यार्थी की बुद्धि का विकास कर सके, और विचार करने की उसकी शक्ति को बढ़ा सके इस पद्धति में पढ़ानेवालों के यानी शिक्षकों के लिए कई आकर्षण हैं। यह शिक्षकों के लिए सबसे अधिक सरल है। यह बहुत संभव है कि चूंकि आजकल के हमारे शिक्षक इसी पद्धति को छोड़ना उनके लिए कठिन हो सकता है। किन्तु चूंकि शिक्षक के धन्धे का मुख्य सूत्र विद्यार्थियों का हित रहा है, इसलिए शिक्षकों को इसका त्याग तुरन्त ही करना चाहिए। शिक्षक के इस त्याग में ही उसका शिक्षकत्व निहित है। इसका त्याग ही शिक्षक का सच्चा धर्म है। कभी प्रसंगवश इस पद्धति का थोड़ा मर्यादित उपयोग, दूसरी पद्धति के साथ, बिना किसी नुक़सान के किया जा सकता है। कुछ विद्यार्थियों के लिए और कुछ परिस्थितियों के लिए यह पद्धति कुछ हद तक उपकारक भी है। महाविद्यालयों के सयाने विद्यार्थियों के लिए इस पद्धति को हम हानिकारक न मानें, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं। विवेकशील शिक्षक को चाहिए कि जब–जब भी इस पद्धति का उपयोग करना पड़ जाए, तब–तब वह इसका उपयोग बहुत ही विवेक–पूर्वक करें।

स्वयंशिक्षण–पद्धति

अंग्रेज़ी में जिसको मोंटेसरी–पद्धति कहा जाता है, उसको हम इस नाम से पहचान सकते हैं, अलग–अलग शिक्षा–शास्त्रियों ने शिक्षा की अच्छी–अच्छी पद्धतियों की खोज की है। इन पद्धतियों में इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि शिक्षक कोई भी विषय विद्यार्थियों को कितनी अच्छी तरह से सिखा सकता है। मतलब यह कि इनमें शिक्षक सिखानेवाला होता है और विद्यार्थी सीखनेवाला होता है।

स्वयंशिक्षण पद्धति वह पद्धति है, जिसमें विद्यार्थी स्वयं ही ज्ञान प्राप्त करता है। इस पद्धति में शिक्षक सीधे–सीधे सिखाता नहीं है, किन्तु वह ऐसे प्रबोधक वातावरण की रचना करता है, जिसमें बालक ख़ुद ही अपनी कोशिश और अपनी बुद्धि से अपने लिए शिक्षा पाता रहता है, जो उसके लिए ज़रूरी होती है।

इस वातावरण में बालक वातावरण स्वयं ही आमंत्रित करता है, अथवा प्रेरित करता है कि वह ख़ुद ही अपनी पसन्द का काम चुने, और अपनी पसन्दगी के अनुसार स्वयं ज्ञान प्राप्त करे, और अपनी शक्तियों का विकास भी करे। यह वातावरण बहुत सावधानी के साथ तैयार किया जाता है। बालक सहज भाव से स्वतंत्र परिस्थिति में, समय–चक्र की और पाठ्यक्रम की मर्यादा से मुक्त रहकर, सजा के डर से और इनाम के लालच से मुक्त होकर, स्वयं किस तरह सीखता है, इसका अध्ययन करके यह वातावरण बनाया जाता है। भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में बालकों को स्वतंत्रता देने के बाद उन परिस्थितियों में बालकों को इन्द्रियों पर और उनके मन पर जो आघात–प्रत्याघात होते हैं, उनका अवलोकन करके उसके आधार पर बालक के विकास के लिए आवश्यक गतिविधियोंवाले वातावरण का निर्माण किया जाता है।

यह पद्धति स्वयं–शिक्षण के साथ ही प्रबोधक सामग्रीवाली पद्धति भी है। इसकी प्रबोधक सामग्री ज्ञान अथवा शक्ति का प्रबोधन स्वयं करती है। प्रबोधक सामग्री की रचना ऐसी होती है कि प्रबोधन के काम में होनेवाली भूलों को बालक खुद ही अपने अनुभव और प्रयोग की मदद से सुधारता रहता है।

यह पद्धति बालक को एक नन्हे किन्तु सम्पूर्ण और विकासमान व्यक्ति के रूप में स्वीकार करती है। बालक की शक्ति में विश्वास और उसका सम्मान, ये दो इस पद्धति के रहस्य–सूचक मंत्र हैं। स्वतंत्रता और स्वयं स्फूर्ति इस पद्धति के लिए श्वासोच्छ्वास के समान होते हैं। यह पद्धति मानती है कि स्वतंत्र परिस्थिति में अपने अंतर की स्फूर्ति के साथ बालक बुद्धि पूर्वक जो कुछ भी करता है, वह उसके लिए शिक्षा स्वरूप ही है।

स्वतंत्रता का अर्थ है, संयमन अथवा स्व–नियमन। स्वतंत्रता का मतलब अतंत्रता नहीं है। स्वयं स्फूर्ति का अर्थ है, सत्कार्य करने की आन्तरिक स्फूर्ति। बालक स्वयं सन्मार्ग पर चलनेवाला है। शिक्षक का काम है कि वह बालक के मार्ग में आनेवाले विध्न को अथवा असद् को दूर करे।

इस पद्धति में शिक्षक का काम है कि वह बालक को स्वतंत्रता के मार्ग पर चलता करे। वह ऐसा वातावरण खड़ा करे कि जिसमें बालक अपनी पराधीन स्थिति में से स्वाधीन अथवा स्वावलम्बी स्थिति में पहुंच सके, जिसमें अपने प्रेम रूपी प्रकाश से शिक्षक शिक्षा के सारे वातावरण को ऊष्मा–युक्त और उल्लासपूर्ण बना सके। इसमें शिक्षक तटस्थ रहता है, फिर भी वह प्रवाह के साथ आनेवाले कूड़े–कचरे को दूर करता है। इसमें शिक्षक केवल द्रष्ठा है, फिर भी वह अनुकूल साधन–सामग्री और वातावरण का सृष्टा है; उसकी भूमिका अवलोकन–कर्त्ता की होती है, फिर भी वह विज्ञान के सिद्धान्तों का स्थापक और उनको कार्यरूप में

परिणत करनेवाला होता है। इसमें शिक्षक का मुख्य सूत्र मौन रहता है, फिर भी वह जानता है कि उसको अपनी वाणी का उपयोग कब करना है। उसका आनन्द इस बात में है कि बगीचे के फूलों की तरह बालक अपने हो रहे विकास को देखकर हंसता रहे। उसकी कल्पना में न तो सज़ा है, न इनाम है, और न स्पर्द्धा ही है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक बालक एक भिन्न व्यक्ति है, और अपनी विभिन्न प्रकार की पूंजी के सहारे अपनी प्रगति करने वाला एक चेतन तत्त्व है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक बालक की सहायता उसका सुहृद् बनकर करता रहे।

इस पद्धति की स्थापना डॉक्टर मेरिया मोण्टीसोरी ने की है। वे इटली देश में रहने वाली बहन हैं। मूढ़ बालकों को शिक्षित करने के अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने औसत बुद्धिवाले बालकों के लिए नए प्रयोग करके इस पद्धति का निर्माण किया है।

यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि मोण्टीसोरी–पद्धति मूढ़ बालकों के लिए है। मूढ़ बालकों पर किए गए प्रयोगों में से निकली यह पद्धति मूढ़ बालकों के लिए स्वयं–शिक्षण के रूप में है, जबकि औसत बुद्धिवाले बालकों के लिए यह स्वयं शिक्षण के रूपवाली है। मतलब यह है कि जिन साधनों से शिक्षक मूढ़ बालकों को सिखा सकते हैं, औसत बुद्धिवाले बालक उन्हीं साधनों का प्रयोग शिक्षक की मदद के बिना खुद ही करके उनसे मिलनेवाला ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरी, यह धारणा भी ग़लत है कि यह पद्धति केवल औसत बुद्धिवाले बालकों के लिए है, और इसमें प्रतिभाशाली बालकों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत, यह पद्धति व्यक्तिगत और स्वतंत्र है। यह व्यक्ति को जितना आवश्यक होता है उतना पूरा अवसर देती है। यह धारणा भी ग़लत है कि यह पद्धति केवल इन्द्रियों की शिक्षा तक सीमित है। इस पद्धति से शिक्षा का आरम्भ इन्द्रिय–विकास से होता है। प्रतिष्ठापित मनोविज्ञान के वर्तमान नियमों के अनुसार मन की शक्तियों के विकास में इन्द्रियों का विकास बुनियाद के रूप में है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें बालक की मानसिक शक्तियों के, अर्थात् बुद्धि–शक्ति, क्रिया–शक्ति और कल्पना–शक्ति के विकास की गुंजाइश है। इस पद्धति को स्वतंत्र विकास–पद्धति का नाम दिया जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा भाषा, गणित, चित्रकला, संगीत आदि कला और ज्ञान के विषय सिखाए जाते हैं, किन्तु इसमें इन विषयों की शिक्षा गौण है, जबकि इनके लिए आवश्यक शक्ति की शिक्षा मुख्य है।

स्वयं शिक्षा की इस पद्धति में कक्षा की व्यवस्था और अनुशासन की मर्यादा भिन्न होती है। जो बालक दूसरे बालकों के लिए बाधक बने बिना अपना विकास करता रहता है, वह बालक व्यवस्थित और अनुशासित बालक माना जाता है। उसके लिए उसका अपना समयचक्र और उसकी अपनी जगह होती है। अपने लिए विषयों का चुनाव भी वह ख़ुद ही कर लेता है। इसके परिणाम–स्वरूप हर एक बालक अपनी गति से ज्ञान प्राप्त करता है। उसके लिए इनाम और सज़ा का कोई अर्थ ही नहीं। वह खुद ही अपना परीक्षक होता है। ज्ञान की भूख के कारण वह ज्ञान ग्रहण करता है। अतएव जब तक उसको ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक वह बार–बार ख़ुद ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है।

इस पद्धति का आविष्कार पश्चिम की जिस बहन ने किया है, वे शिक्षा के क्षेत्र की अग्रणी तत्त्वज्ञ रही हैं। फिर भी यह पद्धति सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित दिखती है, और इसी कारण यह सर्वव्यापक और सर्वमान्य बनी है।

साभार : प्राथमिक शाला में शिक्षा–पद्धतियां, लेखक गिजुभाई, प्रकाशक– मोंटेसरी–बाल–शिक्षण–समिति, राजलदेसर (चूरू)

क्या बच्चे सीखने को उत्सुक हैं?

''छोटू मेरी जान का दुश्मन है। वह न मेरी सुनता है, न अपने शिक्षकों की। वह किसी बात को गम्भीरता से नहीं लेता। वह तो बस गिल्ली–डण्डा खेलना चाहता है।'' कह रहे थे छोटू के पिता, जो बहुत नाराज़ थे। छोटू के पिता की तरह कितने सारे मां–पिता और शिक्षक मानते हैं कि बच्चे पढ़ाई में रुचि नहीं रखते। कितने सारे शिक्षक शिकायत करते हैं कि बच्चों को ज़बर्दस्ती कक्षा में बैठाना पड़ता है और ध्यान देने पर मज़बूर करना पड़ता है। शिक्षक बताते हैं कि इसी रवैये की वज़ह से उन्हें एक ही बात बार–बार दोहरानी पड़ती है।

मगर, क्या यह बच्चों की ग़लती है? हममें से कितने लोग वह काम करेंगे जिसमें हमारी रुचि नहीं हो? बच्चे हों या बड़े, हम सब किसी काम में तभी जुटते हैं जब वह हमें रुचिकर लगे। तो किसी शिक्षक के लिए सबसे अहम सवाल यह होगा कि ''बच्चों को सीखने के लिए उत्साहित कैसे करें?''

क्या आपने कभी बच्चों को आपस में खेलते या किसी बच्ची को घर पर अकेले खेलते देखा है? यदि आप किसी छोटी बच्ची को विभिन्न चीज़ों के साथ देखें, तो आपको कुछ अंदाजा मिलेगा कि उसे क्या रोचक लगता है। बच्ची एक चीज़ मसलन, खिलौना गाड़ी, उठा लेगी, उसे हरेक तरफ़ से टटोलेगी, उसमें से बाहर निकल रहे हिस्सों को घुमाने की, खींचने की कोशिश करेगी। यदि उसमें कोई पुर्ज़ा ऐसा है जो चमकीला है या बाक़ी से अलग है तो उसकी विशेष जांच–पड़ताल होगी। वह उस खिलौने का इस्तेमाल एक कार की तरह या किसी अन्य चीज़ की तरह करके देखेगी और फिर शायद उसे उठाकर दो–तीन बार ज़मीन पर पटकेगी। इसके बाद हो सकता है कि वह देखना चाहे कि उसे थोड़ा ऊपर से गिराने पर क्या होता है। बीच–बीच में वह उसे एक झुनझुने की तरह हिलाने या चूसने की कोशिश भी कर सकती है। वह यह भी तय कर सकती है कि अब इसे छोड़ दे या फिर दूर फेंककर उसके पीछे भागे। मौक़ा मिले तो वह इस चीज़ को सीढ़ियों से नीचे लुढ़काना भी चाहेगी। यदि हम उससे वह चीज़ लेना चाहें, उसे

समझा दें कि वह टूट जाएगी, तो बच्ची का कहना होगा कि वह नहीं टूटेगी। यदि आप उससे कहें कि वह खिलौने के साथ सही ढंग से नहीं खेल रही है, तो शायद वह आपकी बात को अनसुना करके अपने काम में लगी रहे।

यदि हम बच्ची के बर्ताव की सावधानीपूर्वक जांच करें, तो कुछ बातें साफ़ हो जाती हैं। बच्ची के लिए किसी खिलौने से खेलने का मतलब सिर्फ़ इतना नहीं होता कि उसका इस्तेमाल उस ढंग से कर लिया जाए जैसे इस्तेमाल की उम्मीद

कोई बड़ा करता है। किसी चीज़ से खेलते वक़्त बच्ची उसमें पूरी तरह खो जाती है। और आसानी से उसको इधर–उधर नहीं किया जा सकता। किसी खिलौने के साथ ऐसा खेल कभी–कभी काफ़ी लम्बे समय तक चल सकता है।

अब आप बच्चों द्वारा ख़ुद सोचे और किए गए कार्यों के चन्द और उदाहरण देखिए। यह आप पर है कि आप इसे किस तरह समझना चाहेंगे। यदि आप किसी 2–3 वर्षीय बच्ची को एक से अधिक खिलौनों से खेलते देखेंगे, तो आपको हैरानी होगी कि वह उस दौरान उस खिलौने के साथ कितना कुछ कर लेती है। मसलन, यदि कुछ गाड़ियों के साथ खेले, तो हो सकता है कि वह उनके लिए एक पार्किंग स्थल बनाएगी और फिर उन कारों को पार्किंग स्थल से विभिन्न दुकानों तक अलग–अलग रास्तों से होकर ले जाएगी। वह किसी कार को पीछे खींचकर छोड़ देगी और देखेगी कि क्या होता है, या वह एक तकिए का इस्तेमाल एक ढलान के रूप में करके कारों को उस पर लुढ़काएगी, या दो या दो से अधिक कारों की आपस में टक्कर करवाएगी। वह शायद एक कार को दूसरी पर रखकर चलाने की कोशिश करेगी या कार को किसी अन्य चीज़ से धक्का देकर देखेगी। कोई साथी हो या न हो, वह अपने खेल से काफ़ी संतुष्ट रहेगी और पूरे ध्यान से उसे खेलेगी।

यदि कोई बड़ा इस स्थिति में प्रवेश करके बच्ची की शर्तों पर खेलने को राज़ी हो, तो बच्ची के पास असंख्य विचार होंगे जिन्हें वह बड़े के साथ आज़माकर देखना चाहेगी। मसलन, शायद बच्ची सुझाव दे कि कारों की दौड़ की जाए और यह देखा जाए कि किस रंग की कार सबसे तेज़ दौड़ती है। या शायद वह यह खेल खेले कि ये कारें एक टैक्सी स्टैण्ड पर खड़ी हैं, और फिर टैक्सी स्टैण्ड का दृश्य बनाने में लग जाए।

दरअसल, ऐसे खेल बच्चों के बीच बहुत आम व लोकप्रिय होते हैं जिनमें वे विभिन्न स्थितियों की रचना करते हैं। दो–तीन बच्चे साथ हों, तो वे घर–घर खेलने लगते हैं। वे अपने मां–बाप, अपने शिक्षकों या अपने बड़े रिश्तेदारों के तौर–तरीक़ों की नक़ल करते हैं। वास्तव में बड़ों के क्रिया–कलापों की उनकी प्रस्तुति प्रायः उनके द्वारा देखे गए बड़ों के व्यवहार से आगे जाती है। यदि आप बच्चों को घर–घर या 'स्कूल–स्कूल' खेलते देखेंगे, तो पाएंगे कि इन खेलों में बड़ों की क्रियाओं को वे आलोचनात्मक दृष्टि से देखते और विश्लेषण तो करते ही हैं साथ ही, जो कुछ भी वे देखते हैं, खेलों में उनका विस्तार भी नज़र आता है। इनमें वह भी शामिल होता है कि बच्चों के ख़याल से बड़े एक अलग या नई परिस्थिति में कैसे बर्ताव करेंगे। आपको इन खेलों में बड़ों के वास्तविक व्यवहार की बजाय इस बात की भी झलक मिलेगी कि बच्चे उनसे कैसे व्यवहार की उम्मीद करते हैं।

क्या आप मानते हैं कि बच्चों में सीखने की इच्छा नहीं होती, और वे आलसी होते हैं? क्या हमें औपचारिक पढ़ाई में उनकी दिलचस्पी न होने की कोई और वज़ह नहीं सोचनी चाहिए? क्या यह हो सकता है कि ज़रूरत इस बात की है कि हम जो पढ़ाना चाहते हैं, और सिखाने के

तरीक़ों को उनके लिए ज़्यादा आकर्षक बनाएं? यदि हां, तो कैसे?

ऊपर दिए गए विवरणों में बच्ची किसी चीज़ को टटोल रही है और उस चीज़ पर अपनी हर क्रिया का असर देख रही है। तो हम कह सकते हैं कि यदि हम बच्चों को ऐसी ठोस चीज़ें दें जिनके साथ वे खेल सकें और कुछ भी कर सकें तो इससे सीखना रुचिकर बनेगा। या हम यह कह सकते हैं कि यदि स्कूल में हम उन्हें अपनी रफ़्तार और अपने ढंग से चलने दें तो वे सीखना चाहेंगे। हालांकि, ये दो बातें सीखने में मददगार होंगी, लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। हम और क्या–क्या सोच सकते हैं इस बारे में?

इस मामले में एक पिता ने अपनी बच्ची के बारे में जो टिप्पणियां दीं वे ध्यान देने लायक हैं। उन्होंने कहा, ''जब भी मैं सिखाना चाहता हूं, तो देखता हूं कि वह ऊब रही है, उसे रुचि नहीं है और उत्साह नहीं है। लेकिन जब मैं उसे अकेले में मनचाही चीज़ें करते देखता हूं, तो वह इतना कुछ करना सीख लेती है कि मैं दांतों तले उंगली दबा लेता हूं। शायद बच्चे अपने आप, अपनी शर्तों पर अपनी इच्छा के हिसाब से सीखना चाहते हैं और नहीं चाहते कि हर समय उन्हें बताया जाए कि वे क्या करें। मुझे लगता है कि बच्चे सीखना चाहते हैं, सोचना चाहते हैं और नई बातों को खोजना चाहते हैं। वे सिर्फ़ बड़ों द्वारा किए गए कामों को दोहराना नहीं चाहते। वे नई दिशाएं खोजना चाहते हैं।

कई बार ऐसा होता है कि बच्चे स्कूल के शुरुआती सालों में तो सीखने के लिए उत्सुक होते हैं, मगर ऊंची कक्षाओं में पहुंचने तक उनका उत्साह काफ़ी कम हो जाता है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्या निम्नलिखित उदाहरण से आपको इसके जवाब का कुछ अंदाज मिलता है?

उदाहरण

गांव के प्राथमिक स्कूल के बच्चे एक दिन आते हैं, तो दूसरे दिन नहीं आते। ख़ास तौर से बड़ी कक्षाओं में ग़ैर–हाज़री आम बात थी। तब नई शिक्षक शारदा देवी की नियुक्ति हुई। और एक महीने में उनकी कक्षा में बच्चे बहुत नियमित हो गए। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि अन्य कक्षाओं के बच्चे भी उनकी कक्षा में घुसने की कोशिश करते रहते।

शारदा के पढ़ाने के तरीक़े में क्या ख़ास बात थी? वह सिर्फ़ किताबों की बातों को पढ़कर बच्चों से दोहराने को नहीं कहती थी। वह सचमुच बच्चों को इमारत से बाहर ले जाती और उनसे यह देखने को कहती कि आसपास आयत (मसलन) कहां दिख रहे हैं, पूछती कि घर पर अनुपात से संबंधित समस्याएं कब आती हैं, और उन्हें जो भी सामग्री मिले उससे खेल–खिलौने बनाने देती। और शारदा ने इनमें से हर गतिविधि को अपनी कक्षा के प्रत्येक बच्चे के लिए सीखने का सार्थक अनुभव बना दिया।

बच्चे कैसे सीखते हैं?

हमने इस बात के उदाहरण दिए कि बच्चे कैसे सोचते हैं। हमने देखा कि बच्चे न तो बड़ों की नक़ल करते हैं, न ही वे आंख मूंदकर हिदायतों का पालन करते हैं। वे अपने आसपास की दुनिया के साथ अपने संपर्क आधार पर, अपने आप भी काफ़ी कुछ सीखते हैं। दुर्भाग्यवश, शिक्षक अक्सर इस बात को अनदेखा कर देते हैं। नतीजन, मिसाल के तौर पर वे इस बात का कोई लाभ नहीं उठाते कि स्कूल आनेवाले अधिकांश बच्चे घर पर कुछ चीज़ें तो गिनते ही होंगे।

शिक्षकों के द्वारा की जानेवाली एक और दुर्भाग्यवश ग़लती का संबंध उनकी इस बारे में समझ से है कि बच्चे ठोस चीज़ों की खोजबीन के ज़रिए कैसे सीखते हैं। शिक्षकों को कई बार ऐसी चीज़ें दी जाती हैं जिनके साथ खेलकर बच्चे अपनी समझ का विकास कर सकते हैं। लेकिन अधिकांश शिक्षक टूट–फूट के डर से बच्चों को इन चीज़ों से खेलने नहीं देते। शिक्षिका मानकर चलती है कि यदि वह चीज़ दिखा दे और उससे संबंधित अवधारणा बता दें तो बच्चे समझ जाएंगे। यदि वह बच्चों को आपस में बातचीत करने दे या उसने जो कुछ पढ़ाया उसके बारे में वे क्या समझे यह व्यक्त करने दे, तो शायद वह समझ पाएगी कि चीज़ों के ऐसे प्रदर्शन से बच्चे किस तरह के निष्कर्ष निकालते हैं।

हमने बात की कि बच्ची खाली स्लेट नहीं होती है और वास्तव में हम आमतौर पर जितना मानते हैं उससे कहीं ज़्यादा जानती है। हमने ऐसे उदाहरणों का भी ज़िक्र किया जब बच्ची किसी चीज़ के साथ खेलती है और यह पता करने की कोशिश करती

है कि वह उस चीज़ के साथ क्या–क्या कर सकती है और साथ में अपनी शारीरिक क्षमताओं को टटोलती है। हमारे द्वारा दिए गए उदाहरण दर्शाते हैं कि बच्चे नई चीज़ें सीखने को निहायत उत्सुक हैं और सिर्फ़ बड़ों द्वारा थोपी गई हिदायतों से चिपके नहीं रहना चाहते। वे सिर्फ़ बड़ों की बातें दोहराने या नक़ल करने को कतई उत्सुक नहीं होते। दरअसल, जैसा कि अगले दो उदाहरण दर्शाते हैं, बच्चे अपने ढंग से बड़ों को चुनौती देना चाहते हैं।

उदाहरण–एक

एक दोस्त ने अपनी तीन वर्षीय बेटी फ़रीदा का क़िस्सा सुनाया जो दोपहर में बाहर जाना चाहती थी। उसने फ़रीदा से कहा कि अभी बाहर बहुत गर्मी है। फ़रीदा पिता से ज़िद करती रही मगर वह टस से मस नहीं हुआ। अन्ततः उसने पिता से कहा कि उसे थोड़ा पानी दे दे। किचन में पहुंचकर वह एक बहुत ही सुन्दर गिलास में पानी लेना चाहती थी, जो एक सेट का हिस्सा था। उसने आधा गिलास पानी पीकर पिता से कहा, ''मैं गिलास गिराने वाली हूं।'' पिता ने हौसला दिखाते हुए कहा, ''गिराना है तो गिरा दो।'' उसने फिर से कहा कि वह गिलास छोड़ देगी, और देखती रही कि पिता के चेहरे पर फ़िक्र या नाराज़गी नज़र आती है या नहीं। तीन–चार मिनट तक यह चला और आख़िरकार उसने गिलास गिरा दिया, जो टूट गया।

उदाहरण–दो

दो वर्षीय बच्ची की एक हैरान–परेशान मां ने एक दिन शिकायत की, मेरी बच्ची हमेशा कुछ न कुछ नई शैतानी करती रहती है। आज हम कमरे में फ़र्श पर खेल रहे थे, और आपने हमारे घर की खिड़की की सिल को देखा है ना, मैं बस एक पल के लिए किचन में गई, और पलक झपकते ही वह स्टूल की मदद से मेज़ पर चढ़ गई और मेज़ पर उस ऊंची खिड़की की दहलीज सिल पर चढ़ी, और चिटकनी खोल डाली, यह सब आधे मिनट में हो गया।

मैं जब पहुंची तो वह खिड़की से बाहर हवा में लटक रही थी। वह तो मैं समय से पहुंच गई और उसे वापिस खींच लिया। पता नहीं उसने यह सब कैसे कर लिया।

रचनावाद क्या है?

बच्ची को विभिन्न क़िस्म की कई गतिविधियों के माध्यम से किसी अवधारणा के अलग–अलग पहलू को टटोलने की ज़रूरत होती है। ये गतिविधियां बच्ची के लिए दिलचस्प ज़रूर होनी चाहिए। इन गतिविधियों को करके तथा जो कुछ हमने सीखा उसके बारे में बातचीत करके वह किसी अवधारणा के बारे में अपनी समझ बनाती है। मोटेतौर पर, यही सीखने का रचनावादी नज़रिया है।

बच्चों के सीखने के तरीक़ों पर सबसे पहले अध्ययन करनेवाले दो प्रमुख व्यक्ति थे स्विट्ज़रलैण्ड के जां पिआज़े और रूस के एल.एस. वायगोत्स्की। उन्होंने बच्चों का अवलोकन करके परिकल्पना बनाई कि बच्चे कैसे सीखते हैं और परिकल्पना की जांच की। इस प्रक्रिया में उन्होंने रचनावाद के समूचे सिद्धान्त की रचना की। यहां हम इसकी बारीक़ियों में तो नहीं, जाएंगे, हम तो सिर्फ़ यह देखना चाहते हैं कि एक शिक्षक के नाते हमारे लिए व्यवहार में रचनावाद का क्या अर्थ है। इसके लिए, आइए, पहले यह समझें कि कोई बच्ची अपने मन में किसी अवधारणा की तस्वीर कैसे बनाती है?

स्कीम

अपने अनुभवों से भी आप जानते हैं कि बच्ची ठोस अनुभवों में बारम्बार सम्पर्क के ज़रिए सीखती है। इसके अलावा, हर बच्ची का सीखने का अपना ही तरीक़ा होता है। वह अपने अनुभवों को अपनी तरह से समझती है और इस समझ के आधार पर वह अपने मन में किसी अवधारणा की तस्वीर बनाती है। मसलन, मान लीजिए कि वह जोड़ना सीख रही है? हम उसके सामने कुछ चीज़ों की छोटी–छोटी ढेरियां रख देते हैं। वह ढ़ेरियों की चीजों को गिन कर जोड़ेगी। इसी गतिविधि में हम अलग–अलग चीजों की ढेरियां रख देते हैं और उससे पूछते हैं कि इन सभी ढेरियों में कुल कितनी चीज़ें हैं। तो वह सभी ढेरियों के साथ यह दोहरा सकती हैं। इस तरह वह अपनी जोड़ की समझ बनाती है, और साथ साथ उसकी गिनने की क्षमता का भी विकास होता जाता है। दरअसल वह कर क्या रही है? वह बार–बार, अलग–अलग स्थितियों में जोड़ करके जोड़ने की अपनी क्षमता का विकास कर रही है। पिआज़े की शब्दावली में, वह जोड़ने की

अपनी स्कीम विकसित कर रही है।

पिआज़े ने अलग–अलग संदर्भों में स्कीम की परिभाषाएं दी लेकिन एक सी स्थितियों पर बार–बार लागू करके जो क्रिया व्यापकीकृत और बेहतर होती जाती है, उसे स्कीम कहते हैं। वह व्यापकीकृत क्रिया स्वयं भी कई अन्य क्रियाओं का समन्वित रूप होती है। मसलन, बच्ची की जोड़ने की स्कीम में गिनने की स्कीम का उपयोग होता है, और इस अन्तःक्रिया के ज़रिए ये दोनों स्कीमें साथ–साथ और विकसित होती जाती हैं।

अब मान लीजिए मैं दूसरी कक्षा की एक बच्ची से 5 और 3 जोड़ने को कहूं और वह 8 बता दे। फिर मैं उससे वह समझाने को कहती हूं कि वह 8 तक कैसे पहुंची, जो वह समझा देती है। इस वार्तालाप का कौन सा हिस्सा जोड़ने की उसकी स्कीम दर्शाता है– उसका जवाब 8, या उसकी व्याख्या कि वह इस उत्तर तक कैसे पहुंची? बच्ची के उत्तर का महत्त्व नहीं है। सवाल को हल करने के लिए वह जिस विचार प्रक्रिया से गुज़रती है, वह उसकी जोड़ने की स्कीम है। यदि वह कह देती है कि 5+3 बराबर 7 होता है, तो उसने जोड़ने की अपनी स्कीम का इस्तेमाल किया होता। अर्थात् बच्ची की स्कीम उसका क्रिया करने का तरीक़ा है, उसकी क्रियाओं का परिणाम नहीं।

स्कीम के बारे में एक ग़ौरतलब बात यह है कि एक ही क्रिया के लिए एक उम्र व एक ही पृष्ठभूमि के दो व्यक्तियों की स्कीम अलग–अलग हो सकती है। जैसा कि आप जानते हैं, जन्म लेने के दिन से ही बच्ची सीखना शुरू कर देती है। वह चूसना, पकड़ना, खींचना सीखती है और इस तरह की कई स्कीमें विकसित करती हैं। जब वह किसी स्कीम को नई स्थितियों में लागू करती है, तो वह स्कीम उन स्थितियों के मुताबिक़ बदलती जाती है। मसलन, क्या आपने यह देखा कि जब किसी बच्ची को पहली बार गेंद मिलती है तो क्या होता? हम मान लेते हैं कि उसने अपनी बोतल या खिलौने के जानवर जैसी कुछ चीज़ों को धकेलने की स्कीम विकसित कर ली है। इसे वह गेंद पर आज़माती है। वह देखती है कि अन्य चीज़ों को धकेलने की बजाय गेंद को धक्का देने का अनुभव अलग है। शायद वह ये देखे कि एक सा धक्का देने पर अन्य चीज़ों की अपेक्षा गेंद ज़्यादा दूर तक जाती है। यदि गेंद पर वज़न रख दिया जाए, तो गेंद उसके नीचे से खिसक जाती है। वह पाती है कि गेंद का आकार गोल होने की वज़ह से उसे पकड़ने में भी अलग–अलग तकनीक की ज़रूरत होती है। इस अनुभव से गुज़रते हुए उसकी विचार प्रक्रिया के ज़रिए वह गेंद को अपनी धकेल सम्मिलित कर रही है। इस प्रक्रिया के दौरान उसकी पहली वाली धकेलने की स्कीम बदलकर एक नई धकेलने की स्कीम बनती है जिसमें ये नए लक्षण शामिल हो जाते हैं। बदलाव की इस प्रक्रिया को समायोजन कहते हैं। समायोजन की इस प्रक्रिया के ज़रिए धकेलने की उसकी स्कीम का विस्तार हो जाता है, यानी नए गुण जुड़ जाने की वज़ह से वह ज़्यादा व्यापक हो जाती है। अगली बार जब वह गेंद से खेलेगी तब वह गेंद के साथ हुए अपने अुनभवों से विकसित समझ का इस्तेमाल करेगी। बच्ची की उस दुनिया में जिसमें धक्का दिए जा सकनेवाली चीज़ें आती है अब नए गुण शामिल हो गए।

स्कीमा

कल्पना कीजिए कि कोई बच्ची पहली बार एक बिल्ली है को देखती और उसे बताया जाता है कि यह बिल्ली है। उसके दिमाग़ में बिल्ली के कौन से गुण दर्ज़ होंगे? शुरू में शायद यह दर्ज़ हो कि बिल्ली का शरीर बालदार होता है। आगे चलकर, शायद और बिल्लियों के बारे में पढ़कर या सुनकर, 'बिल्ली' की उसकी दिमाग़ी छवि के अन्य गुण, जैसे चार टांगे, दूध पीना, चूहे का पीछा करना, दूसरी बिल्लियों से झगड़ना, लम्बी मूंछे, वग़ैरह, जुड़ते जाएंगे। और यह छवि किसी एक ख़ास बिल्ली पर नहीं बल्कि सभी बिल्लियों पर लागू होगी। 'बिल्ली' की उसकी दिमाग़ी छवि धीरे–धीरे विस्तृत होती गई है जैसे–जैसे उसमें ज़्यादा कड़ियां व संबंध जुड़ते जा रहे हैं। इस तरह की संज्ञान संरचना को स्कीमा कहते हैं।

किसी अवधारणा का स्कीमा उस अवधारणा व उसके गुणों और अन्य अवधारणाओं के साथ उसके संबंधों को लेकर किसी व्यक्ति की समझ की रेखाचित्र प्रस्तुति को कहते है। स्कीम की ही तरह, स्कीमा भी व्यक्ति–व्यक्ति में बदलता है। एक ही व्यक्ति के लिए भी यह वहीं का वहीं नहीं रहता। उस अवधारणा के

बारे में व्यक्ति की समझ बदलने पर स्कीमा भी बदल जाता है। मसलन, बच्चा कुत्ते की एक दिमाग़ी तस्वीर बनाता है। धीरे–धीरे यह तस्वीर बदलती है और ज़्यादा विशिष्ट होती जाती है; लेकिन इसमें ज़्यादा विस्तृत संबंध बनते जाते हैं। जब वह अवधारणा को और व्यापक करता है, तो वह अपने नए–नए अनुभवों को इसमें सम्मिलित करके कुत्ते के स्कीमा को बदल देता है।

एक और उदाहरण देखें। संख्या के बारे में किसी बच्ची के विचार पर ग़ौर करें। शुरू में शायद उसके लिए संख्या का मतलब सिर्फ़ कितने?' के संदर्भ में हो। शायद उसने यह समझ ऐसी स्थितियों से निर्मित की होगी जहां उसे, उदाहरण के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को एक–एक लड्डू बांटना रहा होगा। लड्डू बांटते हुए वह हिचकती है, सोचती है कि उसके पास लड्डू देने के बाद ज़्यादा हैं या कम, और देखने की कोशिश करती है कि क्या सबको एक–एक लड्डू देने के बाद उसके अपने लिए कुछ बचेगा या नहीं। समय के साथ, अपने अन्य अनुभवों के ज़रिए धीरे–धीरे– वह संख्या की अवधारणा का अपना एक स्कीमा बनाती है।

स्कीम की ही तरह स्कीमा में भी समायोजन व परिवर्तन के ज़रिए विस्तार होता है। मसलन, एक–एक की संगति और 'एक और' की धारणाओं से संख्या के बारे में जो प्रारम्भिक समझ बनती है वह विकसित होकर संख्याओं की एक विस्तृत प्रणाली की समझ तब्दील हो सकती है। इनमें से सिर्फ़ पूर्णांक संख्याएं बल्कि भिन्न, ऋणात्मक संख्याएं, अपरिमेय संख्याएं तथा सम्मिश्र संख्याएं भी शामिल हो सकती है।

अब स्कीमा के विस्तार की प्रक्रिया का एक उदाहरण देखिए।

उदाहरण : जब गुड्डी दो साल की थी तब वह सारी पतंगों को चिड़ियां कहती थी। चिड़िया का उसका स्कीमा यह था कि ''कोई छोटी चीज़ जो हवा में उड़ती है।'' तो, वह पतंग को इसमें सम्मिलित कर रही थी। इस सम्मिलन के साथ उसके स्कीमा के समायोजन भी हुआ। पतंग का आकार चिड़िया की अपेक्षा ज़्यादा नियमित होता है। पतंग चिड़िया से अलग तरह से उड़ती है; पतंग उड़ती है तो कभी–कभी आप एक सरसराहट सुन सकते हैं और एक डोर भी देख सकते हैं जो उसे नियंत्रित करती हुई लगती है। उसके जिस स्कीमा में अब तक सिर्फ़ 'उड़नेवाली छोटी चीजें'' थीं, उसमें ये नए–नए गुण जुड़ते गए। इनके आधार पर उसे पतंग और चिड़िया के बीच भेद करने में मदद मिली। स्कीमा में इस परिवर्तन के बाद उसके पास दो क़िस्म की उड़नेवाली छोटी चीज़ें हो गईं:

'चिड़िया' और 'पतंगें'।

आज गुड्डी क़रीब आठ साल की है और आप कल्पना कर सकते हैं कि उड़नेवाली चीज़ों का स्कीमा कितना पेचीदा हो चुका होगा। वह तमाम क़िस्म के हवाई जहाजों, पैराशूट, रॉकेट, उपग्रहों, उड़न छिपकली और चमगादड़ों का इस्तेमाल करते हुए, शायद अनौपचारिक तौर पर यह पता कर सकती है कि उसने अपनी समझ किस हद तक विकसित की है।

मसलन, स्कूल के बाहर रोज़मर्रा की कई स्थितियों में एक चार वर्षीय बच्ची का वास्ता संख्याओं से पड़ता रहता है। एक शिक्षक के नाते आपको चाहिए कि इस जानकारी का उपयोग करें, इस पर आगे निर्माण करें। ज़रूरत इस बात की है कि आप ऐसी गतिविधियां रचें जो बच्ची की संख्या की समझ का संबंध उसकी पूर्व की अवधारणओं से जोड़ने में मदद करें और फिर उसे संख्या की अवधारणा विकसित करने में मदद करें। जैसे–जैसे उसकी समझ बढ़ेगी, संख्या का उसका स्कीमा विस्तृत होता जाएगा। वह सीखेगी कि प्रत्येक संख्या अपने से पहलेवाली तथा बादवाली संख्याओं से एक संबंध भी रखती है। मसलन, तीन दो से एक अधिक है तथा चार से एक कम है। आगे चलकर वह अन्य गुण व संबंध भी सीखेगी। वह अन्य संबंधित अवधारणाओं के बारे में भी सीखेगी। मसलन, रोजमर्रा की स्थितियों में बराबर बांटने या अनुपात निकालने जैसी क्रियाओं से वह 'भाग' की अवधारणा समझेगी। जो बच्ची मूर्त्त–संक्रियात्मक अवस्था में है वह तब सफलतापूर्वक क्रिया कर सकती है और समझ बना सकती है जब उसे सचमुच की वस्तुओं को उलटने–पलटने व उनके बारे में सोच–विचार और बात करने का अवसर मिले। लिहाज़ा उसे अपने

स्कीमाओं का विस्तार करने के लिए उपयुक्त गतिविधियों के ज़रिए ऐसे अवसरों की ज़रूरत होती है जहां वह ठोस वस्तुओं का इस्तेमाल कर सके। एक रचनावादी शिक्षक ऐसे ही अवसर प्रदान करे। ध्यान से चुने हुए सीखने के ऐसे अनुभव को काग़ज़ और रंग–बिरंगी पेंसिलों की ज़रूरत होगी।

ऊपर के उदाहरण में क्या आपने इस बात पर ध्यान दिया कि जब बच्ची नए–नए गुण शामिल करती जाती है, तो एक स्कीम की ही तरह स्कीमा भी समायोजित होता चलता है?

आपने देखा कि बच्ची के स्कीमा सम्मिलित व समायोजन के ज़रिए विकसित होते हैं। तो, इन दोनों के बीच का अंतर क्या है? मसलन, संख्याओं के भाग की स्कीम और भाग के स्कीमा के बीच क्या अंतर है? एक संख्या को दूसरी से भाग देते वक़्त विचार प्रक्रियाओं की जिस शृंखला से कोई व्यक्ति गुज़रता है वह उसके भाग की स्कीम है। दूसरी और उस व्यक्ति का भाग स्कीमा इस बात का आरेख निरूपण है कि वह भाग की अवधारणा से क्या समझता है, उसे किन अन्य अवधारणाओं से जोड़ता है, वग़ैरह। कहने का मतलब यह है कि स्कीम व स्कीमा में मूल अंतर यह है कि स्कीम दुनिया पर क्रिया करने का तरीक़ा है जबकि स्कीमा दुनिया का निरूपण है।

किसी स्कीमा के निर्माण के लिए हम विभिन्न क़िस्म की स्कीमों का सहारा लेते हैं। मसलन, यह देखिए कि कोई बच्ची पूर्णांक संख्या की समझ कैसे विकसित करती है। हम देख चुके हैं कि वह गिनने की स्कीम का उपयोग करके गिनती की संख्या का स्कीमा विकसित करती है वह, आगे, जोड़ व बाक़ी की अपनी स्कीम का उपयोग करके शून्य का अपना स्कीमा भी बनाएगी।

अर्थात्, बच्ची की स्कीम पहले विकसित होती है। इन स्कीमों के ज़रिए दुनिया पर क्रिया करके वह नई–नई स्कीमें भी बनाती है और स्कीमा भी। दुनिया पर क्रिया करके उसे जो अनुभव मिलता है उससे उसे अपने स्कीमा का धीरे–धीरे विस्तार करने में मदद मिलती है। इस अनुभव के आधार पर वह ज़्यादा तादाद में स्कीमाएं भी बनाती है। वह ज़्यादा अंतर्संबंध खोजती है, धीरे–धीरे अपनी समझ व्यापक करती जाती है और ज़्यादा पेचीदा क्रियाएं करने की क्षमता हासिल करती जाती है।

रचनावाद को समझें

अब तक हमने सीखने का ऐसा वर्णन देखा जहां बच्ची दुनिया के साथ संपर्क करती है उसके साथ जूझती है और उसे महसूस करती है। हमने सीखने की प्रक्रिया में शिक्षकों (या अन्य बड़ों) की भूमिका के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं कहा है। शायद आप सोचें कि ऐसा इसलिए है कि रचनावादियों की राय में बच्चों को सीखने के लिए बड़ों की मदद की ज़रूरत नहीं है। ऐसा नहीं है, बड़ों का महत्त्व तो है, मगर किस भूमिका में? आइए इसे समझने की कोशिश करें।

शिक्षक की भूमिका

बड़ों और बच्चों, दोनों को चुनौतियों और सवालों हल करने में मज़ा आता है। क्या आपको नए–नए विचारों को टटोलने में, नए–नए तज़ुर्बे और नई–नई क्षमताएं हासिल करने में मज़ा नहीं आता? कितनी बार जब हम किसी सवाल से जुझते हैं तो आसानी से हार नहीं मानते। हम जूझते रहते हैं, नई चुनौती का आनंद उठाते हैं। हमें कोई ज़रूरत नहीं होती कि कोई कहे कि हमने सही किया हैं, नई चुनौती का आनंद उठाते हैं। हमें कोई ज़रूरत नहीं होती कि कोई कहे कि हमने सही किया या हमें शाबाशी दें (हालांकि वह भी अच्छा लगेगा)। हमें तो यही अच्छा लगता है कि हमने दुनिया के बारे में कोई नई बात सीखी या किसी काम को करने का एक नया ढंग सीखा। यह एहसास अपने आप में एक इनाम है। इस मामले में बच्चे और बड़े समान होते हैं। यदि ऐसा है, तो हम इस एहसास का फ़ायदा उठाकर बच्चों को सीखने में मदद कैसे कर सकते हैं?

सामाजिक पहलू

क्या आपने कभी सोचा है कि यदि आप अपने गांव या शहर की बजाए आस्ट्रेलिया में बड़े हुए होते, तो आप कितने अलग होते? ज़रा सोचिए इसके बारे में। यह भी सोचिए कि यदि आपके शिक्षक, दोस्त और रिश्तेदार कोई और होते, तो क्या अंतर पड़ता? हो सकता है कि ऐसा होने पर आपकी ज़्यादा दिलचस्पी समाजशास्त्र या जीव विज्ञान में पैदा हो जाती अर्थात् सामाजिक

माहौल काफ़ी हद तक सीखने को प्रभावित करता है।

सामाजिक माहौल के महत्त्व पर सबसे पहले बाल मनोवैज्ञानिक वायगोत्स्की ने ज़ोर दिया था। उनके तर्क से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बच्ची अपने अनुभवों के संदर्भ में सीखती है, और उन्हीं पर आगे अपनी समझ बढ़ाती है। जन्म से ही वह इन सामाजिक प्रभावों में डूबी होती है। वह अपने कपड़ों से, अपनी खानपान की आदतों से, नहाने के तरीक़े से और सामाजिक सांस्कृतिक माहौल के अन्य पहलुओं से सीखती है। उसकी भाषा एक औज़ार होती है जिसके ज़रिए वह अपने विचारों को व्यवस्थित करती है और उन्हें दूसरों तक पहुंचाती है। शिक्षकों के नाते हमें चाहिए कि हम हर बच्ची के उस अनुभव का उपयोग करें जो वह अपने महौल से साथ लाती है। हमें अपने विद्यार्थियों के अलग–अलग अनुभवों को इस्तेमाल करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। हां, यह ज़रूर है कि कुछ ऐसी बुनियादी अवधारणाएं हैं जो बच्ची आने से पहले जानती है। मसलन, सारे बच्चे छोटी संख्या में और बड़ी संख्या में चीज़ों के बीच अंतर जानते हैं, वे कुछ संख्याओं के नाम जानते हैं, वे कुछ चीज़ों के आकार व मापों की तुलना कर सकते हैं (आप इस सूची में कई बातें जोड़ सकते हैं)। परन्तु अपनी सामाजिक माहौल की बदौलत हो सकता है कि कुछ बच्चों का किताबों से भरपूर सम्पर्क रहा हो और वे कुछ संख्यांक भी जानते हों, मगर उन्हें संख्याओं की पेचीदा संक्रियाओं से निपटने का अनुभव न हो।

सिर्फ़ अलग–अलग परिवेशों की बात को समझना काफ़ी नहीं है। बच्चे सीख सकें, इसके लिए ज़रूरी होगा कि हम शिक्षक कक्षा में उनके लिए एक सुविधाजनक व दोस्ताना माहौल बनाएं जहां वे सुरक्षित महसूस करें। इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ेगा। तब वे उतने ही खुलेपन से काम करेंगे और अपने ही बस में रह सकेंगे जैसे कि अपने घर या खेल मैदान में करते रहने के आदी हैं। इससे उनकी बुद्धि के विकास को बढ़ावा मिलेगा, और तब सीखना एक जंग न रहकर रोचक बन जाएगा। ऐसी कक्षा में आपका काम यह नहीं होगा कि बच्चों को बताएं कि क्या करें, उनसे अभ्यास करवाएं और उनकी परीक्षा लें, बल्कि आपका काम उन्हें मार्गदर्शन व सहारा देने का हो जाएगा। स्कूल एक ऐसी जगह नहीं रह जाएगी जहां बच्चों को लगता है कि लगातार उनकी जांचें हो रही हैं, उन पर नज़र रखी जा रही है, जिसकी वज़ह से उन्हें ग़लती कर बैठने का डर लगा रहता है। तब आप स्कूल को एक ऐसी जगह बनाने में मदद करेंगे जहां बच्चे आत्मविश्वास से खोजबीन कर सकते हैं, सीख सकते हैं।

मार्गदर्शन

फर्ज़ कीजिए कि आपने अपनी विद्यार्थी को जोड़ से संबंधित एक नए तरह का सवाल दिया है। हो सकता है कि वह इसे हल करना चाहती है मगर उसे पता नहीं कि शुरू कहां से करें। अपने पहले के अनुभवों से शायद वह इस सवाल को समझने के लिए कोई स्कीम न खोज पाए। ऐसे में आपकी उपस्थिति कई तरह से मददगार हो सकती है। मसलन, यदि आप यही सवाल उसे धीमी रफ़्तार से पढ़कर सुनाएं, तो शायद उसे इसका मतलब समझने में मदद मिले। आप कुछ शब्दों को रेखांकित कर सकते हैं या उसका ध्यान सवाल के कुछ हिस्सों की ओर खींच सकते हैं। इससे उसे सवाल के पीछे छुपा अर्थ समझने में मदद मिल सकती है। या आप बच्ची से ऐसे कुछ संबंधित सवाल पूछ सकते हैं जिसकी मदद से वह सवाल को समझने की दिशा में कदम बढ़ाए। आप देख सकते हैं कि इस स्थिति में आपके बिना जितना कर सकती थी उससे कहीं ज़्यादा आपकी मौजूदगी में वह कर रही है। आपका मार्गदर्शन उसे सीखने में मदद कर रहा है।

अलबत्ता, मार्गदर्शन से सीखने की प्रक्रिया और सिर्फ़ जानकारी देना इनके बीच फ़र्क़ करना ज़रूरी है। यदि आप बोर्ड पर एक सवाल हल कर दें और आपकी विद्यार्थी उसकी नक़ल उतार ले, तो क्या आप इसे मार्गदर्शन से सीखना कहेंगे? ऐसा करने से बच्ची ने उस सवाल को कितना समझा है और उसे हल करने के बारे में क्या सीखा? दूसरी ओर, यदि आप उसे वह सवाल समझाएं और उससे कहें कि वह बताए, कि उसने क्या समझा है तो संभावना है कि वह इसे एक सार्थक ढंग से अपनी पहले की समझ में जोड़ पाएगी। इसके लिए ज़रूरी होगा कि आपको बच्ची की समझ

का स्तर मालूम हो और यह सुनिश्चित करें कि उसे जो कुछ पहले से पता है उसमें कैसे यह नया ज्ञान फिट हो सकता है।

यदि आप एक रचनावादी शिक्षक हैं, तो आप हर बच्ची को सवाल को अपने ढंग से सुलझाने को प्रेरित करेंगे। सुझाव व संकेत देकर आप उसे प्रोत्साहित करेंगे कि वह उस अवधारणात्मक संरचना को आगे बढ़ाएं जो उसने अपने दिमाग़ में विकसित की है। आप तैयार शुदा हल बताकर उसकी आत्मनिर्भरता को कम नहीं करेंगे। हमने अभी जो कुछ कहा है, अब इसका एक उदाहरण देखिए।

उदाहरण : मैंने कक्षा 2 के कुछ बच्चों को यह पता लगाने को कहा कि यदि एक बेंच पर 4 विद्यार्थी बैठें, तो कक्षा की 10 बेंचों पर कितने विद्यार्थी बैठ सकते हैं। बच्चों ने इस सवाल को कई अलग–अलग तरीक़ों से किया। कुछ बच्चों ने 10 को 4 सें गुणा किया, कुछ ने 4 को 10 बार जोड़ा, और कुछ ने 10 को 4 बार। कुछ ने 4 को 5 से गुणा किया या 4 को 5 बार जोड़ा, और फिर उसे दुगना कर दिया। तरीक़ों की विविधिता को देखते हुए मैंने कोशिश की कि प्रत्येक बच्ची को उस तरीक़े से आगे बढ़ाने में मदद दूं जो उसके सीखने के ढंग से मेल खाता हो।

कुछ बच्चे सवाल हल नहीं कर पाए। मुझे पता था कि ये बच्चे 40 (व उससे भी आगे) तक गिनती की जानते थे। तो, मैंने 10 बेंचों का चित्र बनाया और प्रत्येक पर चार–चार बच्चे बैठा दिए। इन 10 बेंचों पर बैठे विद्यार्थियों की गिनती करके वे यह देख पाए कि कुल 40 बच्चे बैठ सकेंगे। इनमें से कुछ बच्चों के साथ मैंने सवाल को पढ़ा प्रत्येक वाक्य का विश्लेषण किया, और फिर धीरे–धीरे उन्हें पूरा सवाल समझने में मदद की। मैंने हल करने में उनकी मदद के लिए इस तरह के सवाल पूछे कि 'कुल कितनी बेंचें हैं?' 'एक बेंच पर कितने बच्चे हैं,' 'अब हम गिनकर कैसे बता सकते हैं कि कुल कितने बच्चे हैं?' वग़ैरह। हर बार आगे बढ़ने से पहले मैंने इंतज़ार किया कि वे सवाल के हर हिस्से का विश्लेषण करके समझ लें।

इसी तरह, विद्यार्थियों की पहले की क्षमाताओं को आगे बढ़ाने में मदद देते हुए, मैं धीरे–धीरे उन्हें पहाड़ों के इस्तेमाल करने की ओर प्रेरित कर पाई। जैसे–जैसे वे क्षमता अर्जित करते गए, उन्होंने इस प्रक्रिया को आत्मसात् कर लिया और 'मन में' सवाल करने लगे।

साभार : एलएमटी– गणित सीखने के विभिन्न पहलू, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्तविश्वविद्यालय, विज्ञान विद्यापीठ।

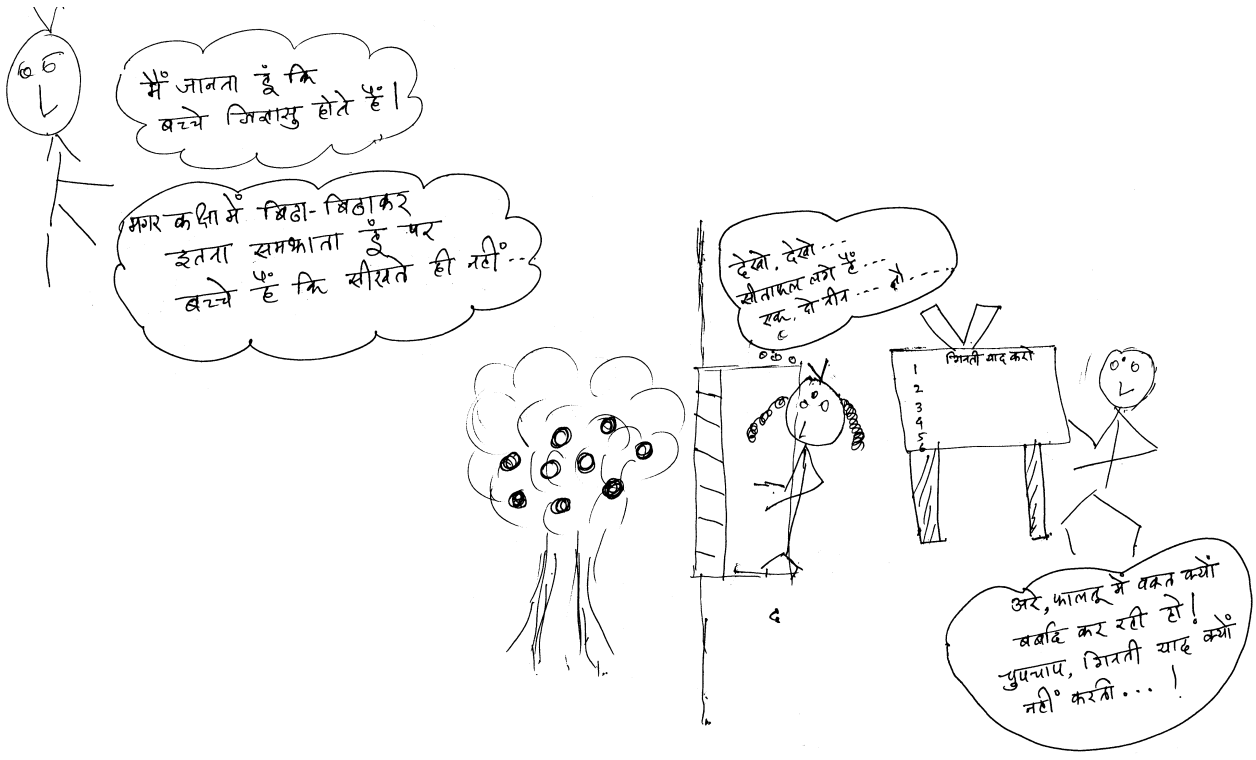

शिक्षा और ज्ञान

कृष्ण कुमार

ज्ञान आख़िर है क्या? ज्ञान को लेकर शिक्षातंत्र में एक बड़ा व्यापक भ्रम व्याप्त रहा है। कई बार लगता है कि शायद यह हाल की ऐतिहासिक विरासत का फल है कि हम इस भ्रम से अब तक निकल नहीं सके। यह व्यापक भ्रम घटने की जगह बढ़ ही रहा है और भ्रम यह है कि ज्ञान एक राशि का नाम है; ज्ञान एक प्रकार का भंडार है जो शिक्षा के ज़रिए बच्चों तक पहुंचता है और प्रौढ़ शिक्षा के ज़रिए निरक्षरों तक पहुंचता है और इस सिलसिले के चलते हम देखते हैं कि हमारे लाखों स्कूल और हज़ारों अन्य तरह के केंद्र इस राशि को आवंटित करने के अड्डे या कार्यालय बन गए हैं। अगर इस दृष्टि से देखें कि आज के समय में जो किताब सबसे ज़्यादा बिकती है यह कौन सी किताब है, जिसको हर एक नौजवान पढ़ता है, हर एक बालक पढ़ता है, या ऐसी कौन सी पत्रिका है जो सबसे ज़्यादा बिकती है, तो ऐसे प्रश्नों के उत्तर में गाहे–बगाहे अंत में आप यही कहेंगे कि ऐसी किताब या पत्रिका का नाम 'सामान्य ज्ञान' ही हो सकता है। ऐसी पत्रिका का नाम सामान्य ज्ञान देनेवाली कोई प्रतियोगिता दर्पण या प्रतियोगिता समाचार ही हो सकता है। ऐसे प्रकाशनों में तरह–तरह की जानकारी रहती है कि दुनिया की सबसे बड़ी मछली कौन सी है, सबसे छोटा पक्षी कौन सा है, मेघालय की राजधानी क्या है, अरुणाचल के मुख्यमंत्री का नाम क्या है, इत्यादि। देखते ही देखते हमारे बच्चों का जीवन अनर्गल तथ्यों का बहुत बड़ा ढेर बनकर रह गया है जिसमें कहीं बचपन का उल्लास या बचपन की स्वच्छंदता के अवशेष भी नहीं दिखाई देते। आप कहीं भी चले जाइए, गांव में शहर में या महानगर, आपको बच्चे तरह–तरह के तथ्य रटते हुए और अपने अध्यापक को सुनाते हुए दिखाई पड़ेंगे। नौजवानों में भी इसी क़िस्म की एक होड़ लगी है कि कौन कितने तथ्य याद कर सकता है। सुबह से शाम तक एक पागलपन सवार रहता है। हम इन तथ्यों को कैसे संजोएंगे? कब संजोएंगे, कहां संजोएंगे? संजोकर रखेंगे कहां? इस सबके बीच में कई बार लगता है कि ज्ञान एक ऐसी चीज़ है जो आदमी को पागल बना सकती है और आदमी को ही नहीं, पूरे समाज को पागल बना सकती है। ज्ञान ऐसी चीज़ इसलिए लगती है क्योंकि हम देखते हैं कि हमारा सबका दिमाग़ एक बड़ी भारी टेलीफोन डाइरेक्ट्री जैसा बना चला जा रहा है जिसमें असंख्य क़िस्म की सूचनाएं दर्ज हैं, लेकिन जो सवाल यूरोप के प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने कभी पूछा था कि 'मुझे क्या करना चाहिए' उसका उत्तर सूचना नाम का ज्ञान दे ही नहीं सकता। ज्ञान का अर्थ अगर सूचना या जानकारी के रूप में लिया जाए तो ज्ञान का दायरा सिमट कर एकदम छोटा हो जाता है, और और ज्ञान का अर्थ, कोई ऐसा अर्थ निकालना जिससे संतोष हो, संभव ही नहीं रह जाता। इसलिए हमें ज्ञान की पड़ताल एक ताजे मन से, खुली तबीयत से करने का प्रयास करना चाहिए। मैं कुछ छोटे–छोटे उदाहरण लेकर यह प्रयास करूंगा।

हम अपने समय की संकुल हवा में ज्ञान का एक अर्थ 'सामान्य ज्ञान' से लेते हैं। 'सामान्य ज्ञान' का अर्थ क्या है? मैं यहां एक कहानी का सहारा लेना चाहूंगा। कल्पना कीजिए कि आप एक बगीचे में टहल रहे हैं। आपके पास फालतू का समय है और आप जिस काम के लिए आए हैं, वह काम अभी शुरू नहीं हो सका है, इसलिए आप कुछ समय इस बगीचे में लगा रहे हैं। बगीचे में तरह–तरह के पेड़ हैं और उनकी छटा आपके चारों तरफ़ बिखरी है। ज्ञान का एक अर्थ यह है कि क्या आप इन पेड़ों के नामों से परिचित हैं? क्या आप जानते हैं कि किस पेड़ को क्या कहते हैं? संचार के विभिन्न पदार्थों को कोई नाम देना और फिर उस नाम से

उस चीज़ को पहचानना ज्ञान का एक बुनियादी, बहुत साधारण अर्थ है। इस अर्थ में ज्ञान हमारे लिए एक तरह का रास्ता खोलता है। अगर मैं जानता हूं कि फलाना पेड़ नीम का है तो फिर नीम के साथ के साथ जुड़े हुए मेरे जो संस्कार हैं, अनुभव हैं, वे मेरे लिए इस नाम से जुड़ जाते हैं। हम यह समझना भी शुरू कर पाते हैं कि इस वृक्ष की क्या विशेषताएं हैं। इस वृक्ष का यहां पर होना यहां के वातावरण के बारे में क्या दिखाता है? वातावरण कैसा है तो उसका एक तरीक़ा यह है कि हम देखें कि यहां कैसा पेड़ उग रहा है। उस पेड़ को देखकर, उस पेड़ में एक तरह के संस्कारों के रूप में लिखी हुई जानकारी को देखकर हम यह अंदाज़ लगा सकते हैं कि यहां कैसा जाड़ा पड़ता है। कैसी गर्मी पड़ती हैं। कैसी बारिश होती है। अगर और ज़्यादा गहराई में जाएं तो किसी पेड़ को देखकर यहां तक बता सकते हैं कि इस पेड़ के ऊपर इसके बचपन से लेकर अभी तक क्या–क्या बीती है। क्या कभी किसी ने पेड़ को आहत करने का प्रयास किया है? पेड़ की आयु कितनी है और यह आयु किस तरह की जलवायु में बीती है? किस तरह की मिट्टी में उपजा है? एक पेड़ को देखकर आप बहुत सारी बातें जान सकते हैं, बशर्ते कि हम उस पेड़ की ज़िंदगी के तमाम स्तर, एक–एक करके छूते चले जाएं। जितने स्तर आप छूते चले जाएंगे, उतना ही उस पेड़ के संबंध में आपका ज्ञान गहरा होता चला जाएगा। एक बगीचे में जहां अनेक पेड़ लगे हुए हैं उस बगीचे से एक फाटक से निकल जानेवाला व्यक्ति इस तमाम ज्ञान को, जो कि हर एक पेड़ में उसकी जीवनी के रूप में अंकित है और उसकी सारी की सारी प्रजातिगत और व्यक्तिगत दोनों ही तरह की विशेषताओं को समेटे हुए हैं, उस सारे ज्ञान को नहीं पाता। ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां ज्ञान के ये तमाम स्तर इर्द–गिर्द छिपे हुए न हों। उनको एक–एक स्तर करके उभारने या छूने की क्रिया से गुज़रना ही जानने का कर्म है। हमने जगत् के स्तरों तक पहुंचकर उन तमाम निहित अनुभवों को फिर से जाग्रत किया या नहीं किया, यह तय करेगा कि कोई अनुभव हमारे लिए ज्ञान बना है कि नहीं।

शब्द के रूप में 'अनुभव' कई बार भ्रम का विषय बनता है। इस शब्द की मीमांसा करना ज़रूरी है। शब्दशः अनुभव का अर्थ है कि वह भाव जो कि होने के बाद रह जाए। जब कोई घटना घट चुके तो उस घटना से गुज़रने की वज़ह से हमारे चित पर पड़ने वाली छाप अनुभव है। इस अर्थ में अनुभव विश्व की हर वस्तु में निहित है, चाहे वह जीवित हो या नहीं। अगर वह जीवित है तो उसके शरीर पर उन अनुभवों की छाप अंकित होगी जिसे पढ़कर हम उन अनुभवों को समझ सकते हैं। किसी मनुष्य के चेहरे पर अंकित भावों और अनुभव की खरोंचें देखकर हम अंदाज़ लगा सकते हैं कि वह समाज के किन अनुभवों से गुज़रा होगा। हम सोचते हैं कि शायद निर्जीव वस्तुओं पर ऐसे चिह्न नहीं होते। लेकिन सच यह है कि निर्जीव वस्तुओं का भी अपना एक संपर्क संसार होता है। दरअसल किसी निर्जीव वस्तु की तुलना किसी अन्य निर्जीव वस्तु से नहीं की जा सकती। क्योंकि हर निर्जीव वस्तु का संपर्क जगत् अन्य निर्जीव वस्तुओं के संपर्क जगत् से अलग होगा। उदाहरण के लिए हम यह फाउंटेन पेन लें। यह निर्जीव वस्तु हैं लेकिन यह जिन–जिन व्यक्तियों के हाथ में रहा है यानी जिस अनुभव से अभी तक यह गुज़रा है, वह इसका विलक्षण अनुभव है। वह इस पेन को अद्वितीय बनाता है, कोई और पेन उसी निश्चित जीवन यात्रा से नहीं गुज़रा है जिससे वह पेन गुज़रा है। फ़र्क़ यह है कि इन पेन के शरीर पर या इसकी ऊर्जा में ऐसा कोई निश्चित अनुभव नहीं है कि हम इसको देखकर कह सकें कि यह अनुभवों से गुज़रा है। लेकिन यह बहुत संभव है कि यही एक साधारण सा पेन किसी व्यक्ति के लिए किसी विशेष क्षण में ऐसी चीज़ बन जाए जो उसको एक नए ही भाव जगत् में पहुंचा दे। हम देखते हैं कि हमारे जीवन में ऐसी अनेक वस्तुएं होती हैं जिनको देखकर, छूकर या कहीं पड़ा हुआ पाकर हमारे मन में अचानक भाव उमड़ने लगते हैं। ऐसा क्यों होता है? हम किसी कमरे में पहुंचकर स्मृतियों में खोज जाते हैं। किसी तस्वीर को देखकर उससे जुड़े हुए तमाम भाव हमारे मन में आने लगते हैं और हम कई बार एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाते हैं जहां हम सामान्य जीवन जीते हुए भी नहीं पहुंच पाते। ऐसा क्या होता है इन निर्जीव वस्तुओं में जो कभी–कभी हमें ऐसे विशिष्ट अनुभव जगत् में पहुंचा देता है? अगर हम इस प्रश्न

का उत्तर किसी भी निर्जीव वस्तु से जुड़े हुए ऐसे अनुभव पर विचार करके ढूंढना चाहें तो बहुत सहज उत्तर हमें मिलेगा कि ऐसी निर्जीव वस्तु दरअसल हमारे लिए प्रतीक हो उठती है और प्रतीक बनकर जुड़ा हुआ होता है। दूसरे व्यक्ति को ठीक–ठीक वैसा ही अनुभव वह प्रतीकों को नहीं दे पाता जो किसी एक व्यक्ति को देता है। सामूहिक मन में जमे प्रतीकों की बात इससे मिलती–जुलती है। किसी दूसरे समाज को या किसी दूसरी संस्कृति में जीनेवाले व्यक्ति को एक प्रतीक वैसा अनुभव नहीं दे पाता है जैसा कि वह हमें देता है। लेकिन हम देखते हैं कि मनुष्य के ज्ञान का एक और प्रमुख मार्ग प्रतीकों में से होकर गुज़रता है। हम किसी अन्य देख के झंडे को देखकर किन्हीं भावनाओं से भर नहीं उठते। अगर हमारे सामने ब्राजील का झंडा फहरा दिया जाए तो हमारे मन में वह कोई भावनाएं नहीं जगाएगा। लेकिन उस देश का कोई व्यक्ति उस झंडे को फहराए जाते हुए देखे तो उसके समाज और उसके देश की संघर्ष यात्रा से जुड़ी हुई स्मृतियां अचानक उसको घेर लें। और ख़ास तौर से तब जबकि वह विदेश में हो। किस वस्तु के साथ कौन सा प्रतीक जगत जुड़ा हुआ है यह जानना भी ज्ञान की एक और लंबी धारा है। अगर इस दृष्टिकोण से देखें तो ऐसी कोई वस्तु या स्थान ढूंढ़ना संभव नहीं है जिसमें प्रतीक बनने की संभावना न छिपी हो।

प्रश्न यह है कि हम वस्तुओं के इस अतीत जगत् में प्रवेश कर पाते हैं या नहीं। प्रतीक बनाना मनुष्य का सहज स्वभाव है जो हमारे जीवन के आरंभिक समय में विकसित होने लगता है। एक छोटा बालक चूड़ी या चप्पल देखकर अपनी मां की कल्पना करने में समर्थ हो जाता है। सारे जीवन यह क्षमता हमारे पास रहती है। इस क्षमता के ज़रिए हम अपने साधारण अनुभवों को भी बहुत गहरे स्तर तक जीने में समर्थ हो जाते हैं बशर्ते कि हम अपने आसपास बिखरे हुए संसार में छिपे प्रतीकों की आवाज़ों को सुनते रह सकें। उनके संपर्क में रहने का समय, धैर्य और कभी–कभी हौसला हमारे पास हो तो यह संभव रहता है कि हम प्रतीकों में छिपे हुए इस तमाम ज्ञान को अपने जेहन में ला सकें।

ज्ञान का एक और अर्थ है जो कई बार सहज दो मनुष्यों के मिलने में प्रकट होता है। मैं आपको एक संक्षिप्त सी घटना सुनाता हूं जिसके ज़रिए ज्ञान का यह अर्थ आपको बड़ी आसानी से समझ में आ जाएगा। पिछले वर्ष लगभग यही तारीख़ थी। मकर संक्रांति के एक दिन बाद की तारीख़। मैं मध्य प्रदेश स्थित अपने घर से लौट रहा था और जिस स्टेशन से मुझे दिल्ली की ट्रेन पकड़नी थी, वहां बहुत रोशनी नहीं थी। शाम थी। कोहरा स्टेशन पर छाया हुआ था। गंदगी प्रायः रहती है जिसे आप स्पष्ट नहीं कह सकते कि यह अव्यवस्था है या एक सामान्य व्यवस्था है। उस सबके के बीच मैंने देखा कि बेंच पर मेरे पास बैठी हुए एक स्त्री अपने आंचल में कोई चीज़ छिपाए है जो जीवित है। मेरी आंखें तेज़ नहीं हैं और जितनी हैं थोड़ी बहुत, वह और भी ख़राब हो जाती हैं जब इतनी ख़राब रोशनी हो। मुझे थोड़ी सी उत्सुकता हुई, पर यह सोचकर कि अब इस बात को जानने को मेरे पास कोई अच्छा साधन नहीं है कि यह क्या चीज़ है, मैंने अपनी उत्सुकता को दबा लिया और गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद उस औरत के पल्लू में से उस जीवित चीज़ ने जब थोड़ी सी हरकत की तो मेरा ध्यान फिर उधर गया और अबकी बार मैंने बहुत कम रोशनी के बावजूद यह ताड़ लिया कि इस औरत के आंचल में छिपी हुई चीज़ हो न हो, एक छोटी से बिल्ली को छिपाए हुए हो यह एक सामान्य स्थिति नहीं है। इसलिए अबकी बार मैं अपनी उत्सुकता को और नहीं टाल सका और मैंने उस औरत से यह जानने की इच्छा व्यक्त की, कि यह बिल्ली कहां से लाई है और कहां जे जा रही हो। उसने काफ़ी देर तक मेरी तरफ़ देखा जैसे वह यह निश्चय नहीं कर पा रही हो कि इस प्रश्न का उत्तर ठीक से दे या जो परिस्थितिवश दिया जाना चाहिए, उसे देकर इस अजनबी व्यक्ति को दूर ही रखे। लेकिन मैं उसकी तरफ़ उत्सुकतावश देखता रहा। अंत में उसने कहा कि यह बिल्ली को वापस इंदौर ले जा रही है। मैंने जानना चाहा कि उसे वह इंदौर क्यों लाई थी। इंदौर से टीकमगढ़ एक ख़ासी दूरी है। सारी रात एक बस चलती है जिसमें 96 रुपए टिकट लगता है। जाड़े की रात में बिल्ली के साथ इस सफ़र को उस औरत ने तय किया होगा और अब वह फिर 60

रुपए ख़र्च करके ट्रेन पकड़कर इंदौर पहुंचेगी। उसकी यात्रा की पूरी योजना, और वह भी एक बिल्ली के साथ, मुझे चौंका गई। आज के ज़माने में एक बच्चे के साथ यात्रा करना भी कष्टप्रद है, तो आप सोच सकते हैं कि बिल्ली के साथ यात्रा करने में कितनी तकलीफ़ होती होगी। इसलिए मैंने इस प्रसंग को पूरी तरह जान लेना उचित समझा।

ज्ञान का यह एक आयाम है कि हम अपने साथ जीते हुए मनुष्य को कितना जाने या कितना न जानें, बहुत कुछ हमारे ऊपर निर्भर होता है। बहुत लंबे समय तक किसी व्यक्ति के साथ जीते हुए भी कई बार हम यह प्रयास सफलतापूर्वक कर ले जाते हैं कि हम उसे एक सीमा से आगे न जानें। अपने आसपास के लोगों को बहुत ज़्यादा जान लेना भी एक प्रकार बोझ जैसा बन सकता है। इस तरह की ज़िम्मेदारी इस ज्ञान के हर एक स्तर से हमारे ऊपर बढ़ती जाती है। हम अपने साथ काम करनेवाले व्यक्ति को जितना जानेंगे, उतनी ही ज़्यादा हमारी ज़िम्मेदारियां उस व्यक्ति के प्रति बढ़ती चली जाएंगी। शायद इसी को लेकर बहुत से लोग अपनी पत्नी को भी बहुत ज़्यादा न जानने पर ज़ोर देते हैं। बहुतेरे लोग चाहते हैं कि बच्चों के मामले में न पड़ें क्योंकि उनको लगता है कि यदि एक बार ये बच्चों के मामले में पड़ तो बहुत सा समय उनको इसी में लगाना पड़ेगा। इसलिए हम अक्सर सुनते हैं कि बच्चो, अपना झगड़ा, अपने आप निपटा लो। हमारे आसपास हर मनुष्य के रूप में इतिहास का, अनुभव का, बहुत ही तरल सागर लहराता है, हम उसमें से जितना उचित समझते हैं उतना ही ध्यान में लाते हैं। बाक़ी उस मनुष्य के लिए छोड़ देते हैं कि वह अपने अंदर का संसार स्वयं संभाले। कभी–कभी ऐसा होता है कि हम एकाएक अपने किसी निकट संबंधी के बारे में कोई नई जानकारी वर्षों के बाद पाते हैं या हम अपने ही परिवार के एक सदस्य के बारे में उसकी मृत्यु के बाद जान पाते हैं। अपने पिता को लेकर हमारी बहुत सी जिज्ञासाएं तभी शमित होती हैं जब पिता इस संसार में नहीं रहते। यह कोई असाधारण सत्य नहीं है। हर व्यक्ति इस सत्य को अपने स्तर पर महसूस करता है जब अपने पिता की मृत्यु के कई वर्ष बाद वह अपने पिता के कई व्यवहारों का आधार आत्मीयता के साथ समझ पाता है।

मनुष्यों के अंतर्संबंधों से उपजे हुए संसार में कभी–कभी ऐसे क्षण आते हैं जब हम जान ही लेना चाहते हैं कि दूसरे में क्या है? मंशा का अंदाज़ लगाने की उत्सुकता हमारे मन में पैदा होती है। ऐसा ही हुआ जब मैंने उस स्त्री से यह जानना चाहा कि वह इस बिल्ली को क्यों लाई थी और वह अब इसको क्यों वापस इंदौर लिए जा रही थी। इसके उत्तर में जो बात उसने मुझे बताई, शायद वह इस पूरे प्रसंग का महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू क्या है, यह मैं अभी ख़ुद नहीं समझ पाया हूं। शायद यह जानने की इच्छा ही सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू थी। लेकिन कुछ न कुछ मूल्य तो उसकी बताई बात का मेरे लिए था ही और आज तक है जब मैं यह कहानी सामने दोहरा रहा हूं। आप समझ सकते हैं कि उस क्षण जब ये बात उसने मुझे बताई होगी, तब मैं कितना चौंका हूंगा। उसने मुझे बताया कि 92 में दिसम्बर के महीने में जो दंगे इंदौर में हुए, उन दंगों की वज़ह से बहुत से लोगों को अपना मुहल्ला छोड़ना पड़ा जहां वे वर्षों से रहते आ रहे थे। उसी समय इस स्त्री को, जो मुसलमान थी, अपना घर छोड़कर अपने रिश्तेदार के यहां टीकमगढ़ में शरण लेनी पड़ी। उसके लिए यह समझना मुश्किल था कि इस बिल्ली को वह अकेला छोड़कर कैसे चली जाए। इसलिए उसके साथ जाड़े की रात का सफ़र तय करके, सौ रुपए खर्च करके वह बिल्ली को टीकमगढ़ ले गई और जब दंगे शांत हो गए, जीवन अपनी सामान्य रफ़्तार पर लौट आया, तब वह वापस बिल्ली को लेकर इंदौर जा रही थी। ज्ञान का जिस तीसरे अर्थ में संधान करने का प्रयास मैं कर रहा था, वह इस प्रसंग से हो गया होगा। ज्ञान का यह तीसरा आयाम समाज के अंतर्जगत् से संबंध रखता है। हम सबके भीतर जो संसार है, जो एक दूसरे को जानने का जिम्मा हमारे ऊपर रहता है, ज्ञान का यह एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। इसको लेकर शिक्षा की भी चेष्टा को चिंतित होना चाहिए। अब मैं ज्ञान का चौथा और अंतिम आयाम लेता हूं।

इस चौथे आयाम रूप में ज्ञान को समझने के लिए मैं आपको पंचतंत्र की एक कहानी सुनाना चाहूंगा। यह कहानी आपमें से बहुत से लोगों

को पता होगी और इसका कहानी के तौर पर कोई ख़ास अर्थ भी नहीं है। जितना अर्थ है वह पंचतंत्रकार ने हज़ारों साल पहले निकाल लिया था। आज की शाम इसका कोई अर्थ है तो वह इस विवेचन के ही संदर्भ में है जो हम यहां करने का प्रयास कर रहे हैं। कहानी यूं है कि एक पेड़ में कौआ निवास करता था जो अपनी संतति के लगातार नाश से दुखी रहता था। कारण यह था कि इसी वृक्ष के कोटर में एक सांप निवास करता था। पंचतंत्र में अक्सर आप देखेंगे कि कहानियों में संकट उसी स्थान पर रहता है जहां पर कि संकट को भोगने के लिए नियति द्वारा चुना गया पात्र या व्यक्ति रहता है। संकट कोई दूर से नहीं आता है। कौआ उसी वृक्ष पर अपना दुखी जीवन व्यतीत करने की कल्पना करता रहता था। वृक्ष के कोटर में एक भयानक सांप रहता था। कौए के परिवार में जब भी संतति का सौभाग्य जन्म लेता था और इस बात की आशा कौए को बंधती भी कि मेरे बाद भी मेरा वंश चलेगा, तब–तब इस प्रयास को यह सांप नष्ट कर दिया करता था। यानी कौए के घोंसले में जब–जब अंडे दिखाई देते थे, सांप आकर उनको खा लेता था। इस कारण कौआ बहुत दुखी रहता था। अपने इस दुख का निवारण किस प्रकार करे, इस चिंता में वह इधर–उधर घूमा करता था। आज हज़ारों वर्ष बाद जब मैं यह कहानी पढ़ता हूं तो मुझे जिज्ञासा होती है कि इस कौए ने कभी दूसरे वृक्ष पर जाने का विचार क्यों नहीं किया। मेरा ख़याल है कि चिंता में पड़ा हुआ व्यक्ति किसी सहज हल को नहीं ढूंढ़ पाता। उस ज़माने में चूंकि पर्यावरण का ऐसा विनाश नहीं हुआ था, इसलिए शायद अन्य सभी वृक्षों पर पक्षियों के घोंसले रहे होंगे और इसलिए कौए को आसानी से कहीं और जाने का उपाय नहीं सूझा होगा। वह अपनी चिंता में अंदर ही अंदर घुला करता होगा कि वह अब कैसे अपने से अधिक शक्ति रखनेवाले शुत्र का विनाश करे। विनाश न भी कर सके तो कम से कम अपनी रक्षा कैसे करे। दोनों ही काम उसको असंभव प्रतीत होते थे।

कहानी कहती है कि इस दुख में एक बार उसकी भेंट उसी जंगल में रहनेवाली एक लोमड़ी से हुई और इस लोमड़ी ने उस कौए से उसके दुख का कारण पूछा। कौए ने उसको बताया कि मैं सांप से चिंतित हूं और दुखी हूं और किसी प्रकार चाहता हूं कि या तो मुझे इससे मुक्ति मिल जाए या इसका विनाश हो जाए। यानी किसी तरह से मेरे अंडों की रक्षा हो जाए। चूंकि मैं उसके सामने निर्बल हूं, इसलिए मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि मैं क्या करूं। लोमड़ी ने अपना अनुभव जगत् टटोलकर कौए को एक उपाय सुझाया और उससे कहा कि जैसा मैं कहती हूं ठीक–ठीक तुम अगर वही काम करो तो तुम्हें संकट से मुक्ति मिल सकती है। आपमें से जो लोग जानवरों से परिचित हैं, शायद समझ सकते हैं कि लोमड़ी का जगत् जंगल के निचले हिस्से में रहा करता है और कौए का जगत् पेड़ों के ऊपर रहा करता है। लोमड़ी इस बात से परिचित थी कि इसी जंगल के एक कोने में एक तालाब है और उस तालाब में प्रति सप्ताह स्नान करने के लिए पड़ोस के राज्य की एक राजकुमारी अपनी अनेक दासियों और नौकरों के साथ आती है। लोमड़ी ने इस कौए को यह सलाह दी कि जब राजकुमारी स्नान कर रही हो और उसके वस्त्र और उसके आभूषण किनारे पर पड़ें हों तो वह उन आभूषणों में एक हार निकालकर, अपनी चोंच में दबाकर अपने वृक्ष की तरफ़ उड़ने लगे। ''ज़्यादा ऊंचाई पर मत उड़ना, कम ऊचांई पर उड़ना और धीरे–धीरे उड़ना। अपने वृक्ष पर वापस पहुंचकर हार को चुपचाप सांप के कोटर में डाल देना।'' ये सारी तरकीब लोमड़ी ने कौए को बताई। संकट में पड़ा हुआ कोई व्यक्ति इतना जिज्ञासु नहीं होता कि पूछे कि इस सबसे क्या होगा? संकट में कोई व्यक्ति जैसा करता है, हम वैसा करने के लिए तैयार हो जाते हैं। कौआ भी इसी प्रकार लोमड़ी की कही हुई बात को मान गया।

सप्ताह का वह दिन आया जिस दिन राजकुमारी स्नान के लिए उस सरोवर में आती थी। उस दिन किनारे पर पड़े हुए उसके गहनों और कपड़ों में से टटोलकर कौए ने हार उठाया और उसको अपनी चोंच में दबाकर ज़मीन से थोड़ी सी ऊंचाई पर धीरे–धीरे उड़ने लगा। राजकुमारी के नौकारों ने बहुत दूर से देखा कि कौआ राजकुमारी का एक बहुत ही क़ीमती हार अपनी चोंच में लटकाए हुए उड़ा जा रहा है। वे उसके पीछे भागे। साथ में वे अपनी लाठियां लिए हुए थे। कौआ इतनी ऊंचाई पर उड़ रहा था कि वे ठीक उसके

पीछे–पीछे भाग सकें। उसके पीछे–पीछे भागते हुए वे उस वृक्ष तक पहुंचे जहां कौए ने लोमड़ी की बताई योजना के अनुसार हार को सांप के कोटर में डाल दिया और उसके बाद निश्चिंत होकर वापस पेड़ की ऊंची डाल पर, जहां उसका घोंसला था, जाकर बैठ गया। इधर नौकरों ने अपनी लाठियां कोटर के भीतर डालीं और राजकुमारी के हार को निकालने का प्रयास करने लगे। आप सोच सकते हैं कि क्या हुआ होगा। सांप बहुत उत्तेजित अवस्था में बाहर आया और नौकारों ने सांप को वहीं लाठियों से पीट–पीटकर मार डाला। इसके बाद वे इत्मीनान से राजकुमारी का हार कोटर में से निकालकर वापस राजकुमारी के पास पहुंचे। आप सोच सकते हैं कि राजकुमारी काफ़ी संतुष्ट हुई होगी जब उसको मालूम हुआ होगा कि उसका हार इस तमाम संकटपूर्ण संघर्ष से गुजर कर वापस सुरक्षित उसके पास आया है।

पंचतंत्र की इस कहानी पर अब आप इस दृष्टिकोण से विचार कीजिए कि इस कहानी की मुख्य घटना में जितने पात्र शरीक हैं, इनमें से कितने पात्रों को यह मालूम है कि वे इसमें क्यों शरीक हैं। इस कहानी में पात्र हैं कौआ, सांप, लोमड़ी, नौकर राजकुमारी और दासियां। अब यह भी सोचें कि इस कहानी की प्रमुख घटना कौन सी है। इस कहानी की प्रमुख घटना यही है कि एक सांप कोटर में से निकाला जा रहा है और कोटर से निकाले जाने के बाद लाठियों से मार डाला जाता है। इस घटना के कारण ही उस समस्या का निदान होता है जिसके साथ यह कहानी शुरू हुई थी। यानी कौए की कहानी यह कि संतति नाश दुख किसी प्रकार दूर हुआ। इस समस्या का निदान उपर्युक्त नाटकीय घटना के ज़रिए होता है। आप इस पर विचार करें कि इस कहानी के जगत् में ऐसे पात्रों की संख्या कितनी है जो इस घटना में अपने शामिल होने का कारण जानते हैं। अगर आप इस दृष्टिकोण से केंद्रीय घटना पर विचार करें तो इस कहानी में ऐसा एकमात्र पात्र लोमड़ी है; बाक़ी जितने पात्र हैं वे सबके सब इस घटना में शरीक हैं, लेकिन क्यों शरीक हैं और अपनी–अपनी भूमिकाएं क्यों निभा रहे हैं, इस बात से वे अवगत नहीं है। इस जगत् में उनको जो कर्तव्य दिया गया है, उसका निर्वाह वे किए चले जा रहे हैं। क्यों कर रहे हैं, क्या कर रहे हैं। यह उनको नहीं पाता। यहां तक कि कौए को भी नहीं मालूम है यद्यपि वह इस कहानी का नायक है। नायक से यह अपेक्षा की जाती है, साहित्य में प्राचीनकाल से की जा रही है कि कम से कम नायक को तो मालूम होना चाहिए कि वह क्या कर रहा है। क्यों कर रहा है? लेकिन हमारी कहानी में नायक को नहीं मालूम कि वह एक नहाती हुई राजकुमारी का हार लेकर क्यों उड़ रहा है? कुछ कम ऊंचाई पर क्यों उड़ रहा है? उस हार को लेकर कोटर में क्यों डाल रहा है? अब इस कहानी के खलनायक पर विचार करें। क्या उसे खलनायक कहा जाए? इस कहानी के अंतर्जगत् में प्रवेश करें तो यह स्पष्टः नहीं रह जाता कि खलनायकत्व क्या है। यह कहानी इस अर्थ में बहुत आधुनिक कहानी है। जब नायक और खलनायक का भेद खो जाए तो समझना चाहिए कि आधुनिक काल आ गया। नौकर सांप को लाठियों से मार रहे हैं। एक जीवित प्राणी की हत्या कर रहे हैं। उनको स्वयं नहीं पता कि हम ऐसा क्यों कर रहे हैं। दरअसल थोड़ा बहुत तो उनको पता कि हम इसलिए कर रहे हैं जिससे यह हार हमारी राजकुमारी के पास पहुंच जाए। लेकिन जो उनको पता है, वह अर्द्धसत्य है, यह अधूरा ज्ञान है। वे जिसे निमित ऐसा कर रहे हैं, यह उनको नहीं पता है। कठोर शब्दों में कहें तो हम कह सकते हैं कि प्रसंग यह है कि कौन उनको इस्तेमाल कर रहा है और क्यों कर रहा है। आज की भाषा में कहें तो अपना उल्लू सीधा करने के लिए कोई उनका उपयोग कर रहा है जो उनका इस्तेमाल कर रहा है, उसका वास्ता सिर्फ़ इतना ही है कि उसका काम हो जाए। इसके बाद ये कमबख़्त जो चाहें करें। ये नौकर अपने कर्म जगत् के निश्चिंत निवासी इस कहानी में जो सबसे सक्रिय हैं, यानी सिर्फ़ सोचनेवाले प्राणी नहीं हैं, बल्कि कर्मठ हैं वही नौकर हैं। उनको नहीं पता है कि वे किसी ख़ातिर, किन मूल्यों की ख़ातिर, किन उद्देश्यों के ख़ातिर, किन समस्या के ख़ातिर अपनी दुर्दांत सक्रियता प्रदर्शित कर रहे हैं। काम कर रहे हैं और सफलतापूर्वक कर रहे हैं। काम करके चले जाते हैं। अब राजकुमारी पर विचार करें तो हम और ज़्यादा उदासी में खो जाते हैं। उसी के हार का इस्तेमाल यानी सरोवर में आने की

घटना के कारण कहानी बन सकी। अपना पूरा योगदान बग़ैर कोई श्रेय लिए हुए राजकुमारी निभाती है। नौकरों को कम से कम कुछ श्रेय मिलता है कि उन्होंने कुछ किया, लेकिन राजकुमारी को क्या मिला! कुछ नहीं मिला। राजकुमारी इस विराट कारण–परिणाम–शृखंला के जगत् में अपनी भूमिका निभाकर खो जाती है।

इस कहानी में एक ही पात्र है जो कहानी में शामिल सारे घटना–चक्र से परिचित है। आप देख सकते हैं कि उस पात्र के प्रति मेरी इज़्ज़त क्यों है। वह एक निष्क्रिय पात्र है, जिसको आप चाहें तो बुद्धिजीवी कह लीजिए, जो इस नाते कि उसको मालूम है कि किस चीज़ का संबंध कहां बिठाया जा सकता है और किस समस्या का निदान किससे करवाया जा सकता है। केवल इस ख़ातिर वह एक ख़ास स्थान इस कहानी में ग्रहण किए हुए है। उसकी ही योजना है जिसके तहत तमाम पात्र अपना–अपना काम करके अपने सामान्य जीवन में लौट जाते हैं, सिवाय सांप के जिसका सामान्य जीवन यह चिंतनशील पात्र समाप्त ही करवा देता है।

लोमड़ी के दृष्टिकोण से सोचें–यानी आप इस लोमड़ी को केंद्र में रखकर सोचें तो आप देख सकते हैं कि ज्ञान क्यों सृष्टि के आरंभ काल से ही शक्ति का पयार्य माना गया है। ज्ञान में कौन सी शक्ति है? ज्ञान क्यों शक्ति है? और ज्ञान को लेकर, ख़ास तौर से ज्ञान के उत्पादनों को संजोने के सवाल पर आरंभ काल से ही समाज व्यवस्थाओं में हमेशा गहरी चिंता और उठापटक जारी रही है। अगर आप इस बात को बहुत सरल दृष्टांत से समझना चाहें तो आप लोमड़ी के इस वैध वर्चस्व पर ग़ौर करें जिसके कारण कौआ उसके पास जाता है, अपना दुख उसको सुनाता है। उस दुख का निदान बग़ैर अपना हाथ हिलाए हुए लोमड़ी जिस प्रकार कर देती है, उससे आप समझ सकते हैं कि ज्ञान का इस्तेमाल करने की क्षमता और सही ज्ञान को सही स्थान पर मुहैया कराने की क्षमता को आरंभ काल से ही क्यों इतना महत्त्व दिया गया है।

हम अपने समय में देखते हैं कि विश्व का सबसे शक्तिशाली देश जिसके पास इस धरती को एक दिन में सैकड़ों बार ख़त्म कर देने की शक्ति है, यानी संयुक्त राज्य अमरीका आज हमारे देश पर इसके लिए दबाव डाल रहा है कि जो ज्ञान–सामग्री अमरीका में पैदा की गई है उसके कॉपीराइट को हमारा देश माने। क्या कारण है कि इतना शक्तिशाली देश ज्ञान के कॉपीराइट को लेकर इतना चिंतित है, इतना व्यग्र है। इसका कारण समझने के लिए आप पंचतंत्र की इस कहानी पर ग़ौर करें। कहानी दिखाती है कि शक्ति तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक उस शक्ति के साथ ज्ञान और ज्ञान को अपने नियंत्रण में रखने का कोई उपाय न आ जाए। ज्ञान का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण आयाम है कि वह किन परिस्थितियों में शक्ति का पर्याय बनता है। इसी कारण ज्ञान के क्षेत्र में सदैव से एक प्रकार की प्रतियोगिता रही है। कौन सा ज्ञान वर्चस्व का कारण बनेगा और कौन सा ज्ञान दुरदुरा दिया जाएगा। हर युग में यह प्रतियोगिता अलग–अलग रूपों में चलती है। जो ज्ञान कल तक वैध या महत्त्वपूर्ण ज्ञान था, आज के प्रतियोगिता के युग में वह अवैध बन जाए और अवैध ही नहीं, अज्ञान का पर्याय बन जाए। वैसी स्थिति में उस ज्ञान से लैस व्यक्तियों को अज्ञानी घोषित कर दिया जाएगा। हम अपने ही समय में देखते हें कि तरह–तरह का ज्ञान जो कि आज से 50 या 100 वर्ष पूर्व किसी व्यक्ति को ज्ञानी कहलाने का अधिकार देता था, आज उस व्यक्ति की ग़रीबी को भी दूर नहीं कर सकता।

यह सही समय है जब हम लोग शिक्षा की तरफ़ बढ़ें क्योंकि शिक्षा का तंत्र ही वह साधन है जिसके ज़रिए ज्ञान की विभिन्न धाराओं के बीच प्रतियोगिता को एक सामाजिक आकार मिलता है। शिक्षा एक प्रकार से ज्ञान की कुछ धाराओं को वैध और कुछ अन्य धाराओं को अवैध बना देती है। इतना अवैध बना देती है कि वे धाराएं शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश ही नहीं कर पातीं। उनका होना न होना या कि किसी के द्वारा ज्ञान की उन धाराओं का जाना जाना उनके लिए व्यर्थ बन जाता है।

शिक्षा की तरफ़ बढ़ने की इस कोशिश में एक क्षण के लिए रुककर मैं उस व्यक्ति पर अपना ध्यान करूंगा जो शिक्षा की प्रक्रिया में केंद्रीय स्थान पर बैठा हुआ है। अगर शिक्षा की प्रक्रिया का सहज अर्थ है सीखना और उसका दूसरा आयाम है सिखाना तो इस प्रक्रिया में केंद्रीय स्थान पर वह व्यक्ति बैठा हुआ है

जो सिखाता है। यह व्यक्ति है शिक्षक और उसकी भूमिका बहुत जटिल है। इस भूमिका को बहुत अच्छी तरह उसकी जटिलता के साथ न्याय करते हुए बुद्ध ने समझा था। बुद्ध के दर्शन में इस बात को केन्द्रीय स्थान दिया गया है कि शिक्षक अपनी बात शिक्षार्थी तक कैसे पहुंचाए। जो रूपक बौद्ध दर्शन में इस प्रक्रिया की जटिलताओं की ओर इशारा करने के लिए इस्तेमाल किया गया है, वह ज्ञान का रूपक है। ज्ञान एक ऐसी गाड़ी है जो हमें किसी अवरोध, जैसे नदी, को पार करने में हमारी मदद करती है। हवा भी एक अवरोध है, लेकिन वायुयान जैसी चीज़ बौद्ध दर्शन में एक रूपक के रूप में हमारी मदद नहीं कर सकती। यहां तो यान का एक पुराना ही रूपक लेना होगा। नाव एक ऐसा यान है जो नदी को पार करने में हमारी मदद करता है। जो रूपक उभरता है वह नदी के दो तटों का है।

इस तट पर यानी इधर सीखनेवाला भी बैठा है और शिक्षक भी। दोनों इस रूपक में इस तट पर हैं। जिस दृश्य का बयान शिक्षक करना चाहता है या जिस दृश्य के बारे में वह अपने शिष्य को सिखाना चाहता है वह दृश्य है नदी के उस पार का दृश्य। नदी इतनी चौड़ी है कि उस पार आसानी से देखा नहीं जा सकता। उस पार पहुंचकर ही पता लगता है कि उस पार क्या है। इस रूपक में समस्या यह है कि जो व्यक्ति उस पार हो आया है, उस व्यक्ति के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह ऐसे व्यक्तियों के साथ अपना रिश्ता कायम करे जो अभी उस पार नहीं हो आए हैं। शिक्षक के ऊपर बड़ी ज़िम्मेदारी डाली गई है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो उस पार के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी रखता है। वह उस पार हो आया है। ऐसा नहीं है कि वह उस पार गया तो फिर उस पार ही रह गया। ऐसे व्यक्ति भी समाज में होते हैं और बहुत से लोग होते हैं, लेकिन वे शिक्षक नहीं होते। वे उस पार ही रह जाते हैं। इस पार से उनको समझाना शेष संसार के लिए एक प्रकार की चुनौती बन जाता है। हम ऐसे अनेक लोगों की सूची बना सकते हैं जो उस पार से नहीं लौटे या उस पार पहुंचने के बाद उस पार के हो गए। डॉक्टर और इंजीनियर ऐसे ही लोग है। वे हमारे बीच रहते हैं, पर अपना ज्ञान अपने पास रखते हैं उसका प्रयोग करते हैं, पर उसे किसी से बांटते नहीं।

बालक को यह सुविधा प्राप्त नहीं है कि वह उस पार अभी हो आए। उसे शिक्षक का सहारा लेना होता है। शिक्षक एक ऐसा व्यक्ति है जो उस पार के बारे में जानता है, लेकिन उस पार ही नहीं छूट गया। उसके पास एक नाव है जिसको वह दोनों तटों के बीच संपर्क बनाए रखने के लिए इस्तेमाल करता है। एक नाविक होने के नाते उसके ऊपर एक भारी ज़िम्मेदारी आती है। ज़िम्मेदारी यह है कि वह उस पार के दृश्य का महत्त्व कम किए बग़ैर और उस पार की विलक्षणता घटाए बग़ैर उन शिक्षार्थियों को, जो उस पार नहीं गए, इस बात से परिचित करा सके कि उस पार क्या है। यह ज़िम्मेदारी बहुत जटिल तब हो जाती है जब, जिन लोगों के बीच वह काम कर रहा है, उनका अनुभव जगत् बहुत सीमित हो जैसे कि बालकों का। उनके लिए उस पार की दृश्यावली बहुत जटिल है। बहुत सारी चीज़ें हैं जो वे नहीं जानते। ऐसी स्थिति में शिक्षक के सामने जो विकल्प उभरते हैं यही हैं कि या तो वह उनको उन दृश्यों के प्रति आकर्षित करे और अपनी नाव में बिठाकर वह उनको उधर जाने के लिए प्रेरित करे या उन दृश्यों के बारे में ऐसा विवरण दे कि शिक्षार्थी बगैर वहां जाए हुए बहुत कुछ समझ लें कि वहां क्या है, अर्थात् शिक्षक से मिली समझ के आधार पर उस तट की जानकारी से प्रेरित महसूस करें। सबमें बड़ी समस्या यही है कि उस तट की विलक्षणता के साथ अन्याय न हो।

उस तट पर जो कुछ दिखाई देता है वह महत्त्वपूर्ण है ही इसलिए कि एक बार जब उस तट को व्यक्ति देख लेता है तो वह एक तरह से बदल जाता है। अगर वह इस तरह से बदले नहीं, उसका रूपांतरण न हो जाए तो फिर दूसरे तट का महत्त्व ही क्या रहा। उस तट का अनुभव मनुष्य को बदल डालता है। लेकिन इसके बाद इसी मनुष्य की शिक्षक की भूमिका में उन लोगों के साथ संपर्क स्थापित करना होता है जो इस प्रक्रिया से गुज़रे हुए नहीं हैं। उन लोगों यानी छात्रों से संपर्क स्थापित करने की उसकी क्षमताएं एक बड़ी चुनौती का सामना करती हैं। इस प्रकार से रूपांतरित हुआ मनुष्य, जो ज्ञान के ज़रिए एक नए स्तर पर पहुंच चुका हो फिर कैसे ऐसे लोगों के साथ जुड़े रहे जिनके

पास वह ज्ञान नहीं है? सबसे बड़ी चुनौती इस प्रक्रिया में यही है कि वह लोगों के साथ न अन्याय करे और न ज्ञान के साथ रोज़मर्रा के जीवन में साधारण से साधारण शिक्षक के मन में यही प्रश्न पैदा होता है कि जो कुछ मैं जानता हूं वह जिस संबंध चक्र से जिस तमाम व्याख्या जगत् से बंधा हुआ है, उस व्याख्या जगत् को इकट्ठा किए बिना कैसे मैं अपने इस ज्ञान को बच्चों तक पहुंचाऊं। उस व्याख्या जगत् को अगर संपूर्णतः प्रस्तुत करना संभव होता, तो शिक्षक का कामकाज आसानी से हो सकता था। दिक़्क़त यही है कि एक विकासमान बच्चे के सामने वह व्याख्या जगत् पूरी तरह से इकट्ठा नहीं उभारा जा सकता। कोई चीज़ क्यों महत्त्वपूर्ण है यह इकट्ठा नहीं बताया जा सकता। फिर भी उस चीज़ को जानना ज़रूरी है। उस व्याख्या जगत् से अलग करके कोई विशेष जानकारी कैसे दी जाए? एक विकासमान बच्चे के स्वभाव को, उसकी स्वाभाविक इच्छाओं को जो कि स्वच्छंद है, व्यक्त करने का मौक़ा देते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया से कैसे गुज़ारा जाए। हर शिक्षक के सामने यह चुनौती रहती है। इस चुनौती में एक विशेष जटिलता है। ज्ञान का एक विशिष्ट रूप है जिसका ज़िक्र मैंने आपसे पहले नहीं किया। ज्ञान का एक हिस्सा है जो अकथ है। यानी कहकर नहीं बताया जा सकता। ज्ञान के जिन आयामों पर हमने पहले विचार किया वे किसी न किसी प्रकार कहे जा सकते हैं। कहानी की शक्ल में, व्याख्या, विवेचना या वर्णन की शक्ल में, लेकिन ज्ञान का एक अकथ पक्ष भी है। परिस्थिति देखिए कि ज्ञान का यह अकथ रूप ही सबसे पहले प्रकट होता है। यह अकथ ज्ञान क्या है? अकथ ज्ञान है वह ज्ञान जो किसी भी कौशल में शरीक होता है। मान लीजिए हम साइकिल चलाना सीख रहे हैं। साइकिल चलाने की प्रक्रिया में जो ज्ञान काम आता है, अगर आप इस ज्ञान का विश्लेषण करना शुरू करें तो यह ज्ञान इतना जटिल साबित होगा कि अगर उस ज्ञान को एक बार देना शुरू किया जाए तो दुनिया का कोई आदमी साइकिल चलाने के लिए मानसिक रूप से अपने आप को तैयार नहीं कर सकेगा। किस तरह साइकिल में संतुलन बना रहता है और आदमी जब एक तरफ़ गिरने को होता है तो साइकिल को किस तरह दूसरी तरफ़ झुकाया जा सकता है, साइकिल में निहित यह संतुलन एक सूक्ष्म अकथ ज्ञान है। साइकिल इस अर्थ में हमारे समय की संसदीय राजनीति है, उससे कम जटिल नहीं है। कब किस तत्त्व को, किस तरफ़ से आती हुई शक्ति को दूसरी तरफ़ से एक और शक्ति लाकर निरुपाय कर देना है। यह ज्ञान साइकिल को संतुलित रखने जैसा ही है। इस ज्ञान का सतत इस्तेमाल करते हुए ही हम साइकिल पर बने रहते हैं और धराशायी नहीं होते। अगर आप किसी भौतिक विज्ञानी से कहें कि वह साइकिल चलाने की प्रक्रिया में शामिल भौतिकी के नियम समझा दे, तो उसे एक लंबी–चौड़ी विवेचना करनी पड़ेगी। उस विवेचना को पढ़कर अगर आप किसी बच्चे को साइकिल चलाने के लिए प्रेरित करें, कोई नचिकेता ही होगा जो कहेगा कि हां, मैं भी साइकिल चलाना चाहता हूं।

ठीक ऐसा ही मामला भाषा का है। अगर आप इस बात की विवेचना करना आरंभ करें कि हम कैसे बोलते हैं या कि अपने आसपास बोली जाती हुई ध्वनियों को सुनकर उनका एक ख़ास विन्यास अपने मानस में कैसे रचते हैं और उसके बाद कैसे उस विन्यास को इतना लचीला बना लेते हैं कि हम उस विन्यास के असंख्य रूप अपने मुंह से ध्वनियों के ज़रिए तैयार करते हैं और अलग–अलग परिस्थितियों में उन अलग–अलग विन्यासों का इस्तेमाल करके सुननेवालों के मन में भाव और विचार पैदा कर पाते हैं, तो एक ख़ासा बड़ा विवेचना ग्रंथ तैयार हो जाएगा। वह आयु जिसमें एक बालक भाषा का 90 प्रतिशत से ज़्यादा सीख लेता है, ऐसी आयु होती है जब इस विवेचना ग्रंथ को पढ़ने की शक्ति किसी बालक में नहीं होती। दो ढाई साल की उम्र तक भाषा के इस जगत् का एक बहुत बड़ा हिस्सा साधारण बालक को प्राप्त हो जाता है। कैसे प्राप्त हो जाता है, यह अपने आपमें प्रकृति का चमत्कार या कौतूहल का विषय है। जो भी औपचारिक शब्द आप इसको देना चाहें दे लीजिए पर जिसको हम अकथ ज्ञान कहते हैं, जो तमाम क़िस्म के कौशलों में निहित होता है, इसी क़िस्म का ज्ञान है। वह ज्ञान चाहे किसी सुंदर मूर्ति को बनाने का ज्ञान हो या किसी मशीन के साथ काम करके उसे सुचारु रूप से चलाने का ज्ञान हो,

ये सभी ज्ञान ऐसे हैं जो हमें सहभागिता से प्राप्त होते हैं। सुनकर या पढ़कर ज्ञान की राशि के रूप में ये ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकते। इस तरह के ज्ञान हमसे ये मांग करते हैं कि हम किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जिएं जो पहले से इस ज्ञान का मालिक हो। उस व्यक्ति के साथ जीते हुए, उसके साथ काम करके हम वह ज्ञान सीख जाते हैं। पारंपरिक शब्दावली में इस प्रक्रिया को अनुकरण कहा जाता है। अनुकरण से आशय यह है कि जो किसी ने किया, वही करना है। दुर्भाग्यवश आज के समय में शब्दों का सहज अनुवाद हमारे जीवन की विशेषता हो गई है। अनुकरण को हम लोग नक़ल का नाम देते हैं। दरअसल नक़ल और अनुकरण अलग–अलग चीज़ें हैं।

अनुकरण किसी व्यक्ति के साथ जीते हुए उस व्यक्ति के काम को यथासंभव स्वयं करने की इच्छा से आविष्ट होने का नाम है। ज्ञान का अकथ आयाम हमें इसी प्रक्रिया से प्राप्त होता है। शिक्षक के सामने एक बड़ी चुनौती यही है कि जो ज्ञान उसको स्कूली जीवन के एकदम आरंभिक दिनों में देना होता है, वह इसी क़िस्म का ज्ञान है। जिसे पढ़ने लिखने का कौशल कहते हैं, इसी कौशल में सब तरह की विद्या पाने की कुंजी छिपी है। बाद में बहुत सी कुंजियां बालकों को मिलती हैं, पर यह सबसे बड़ी कुंजी है जो जीवन में सबसे पहले प्राप्त करनी होती है। यह कुंजी शिक्षक बच्चे को कैसे दे? पढ़ने–लिखने का कौशल कहकर या बताकर नहीं दिया जा सकता। यह अकथ ज्ञान की श्रेणी में आता है। शिक्षक के सामने एक बड़ी भारी समस्या होती है। हर व्यक्ति जो पढ़ना जानता है, उसके लिए पढ़ना सिखाने का आशय तब तक नहीं खुल सकता जब तक वह स्वयं पांच वर्ष के एक बालक के साथ बैठकर पढ़ना सिखाने की शुरुआत न करें कोई दूसरा इस काम की जटिलता को नहीं समझ सकता। शिक्षा नीति के निर्माताओं को यह सब नहीं मालूम होता कि एक बच्चे को पढ़ना सिखा देना कितनी जटिल और संघर्षमय प्रक्रिया होती है। शिक्षा मंत्रालय जैसी जगह पर काम करनेवाले व्यक्ति को इस बात का ज्ञान नहीं होता।

एक अन्य तरह का ज्ञान जिनमें प्रतीकों के माध्यम से अनुभव जगत् से जुड़ने का और स्वयं के अनुभवों पर विचार करने का अवसर मिलता है, स्कूली व्यवस्था नहीं दे पाती। ऐसा क्यों नहीं हो पाता? मैं अक्सर इस उत्सुकता से आविष्ट रहता हूं कि मैं जिस स्थान पर गया हूं चाहे वह कितना ही छोटा कोई स्थान हो, वहां जाकर देखूं कि उस स्थान के बगल में स्थित स्कूल में क्या हो रहा है। कोई दो महीने पहले मैं अमरकंटक में था। जहां गुलबकावली नाम का एक विशिष्ट फूल पाया जाता है जिसका ज़िक्र क़िस्सा हातिमताई में हुआ है। आपमें से जिन लोगों ने हातिमताई का क़िस्सा पढ़ा है, उन्हें याद होगा कि हातिमताई, जो एक बहुत साहसी नौजवान था, वह कैसे अपने राजा की आंखों को ठीक करने के लिए इस फूल को ढूंढ़ने निकला था। उस कहानी में लिखा हुआ है कि पहाड़ियों से घिरी हुई कोई जगह है, जहां पर यह फूल उगता है। यह नहीं लिखा है कि जगह कौन सी है? संभव है, यह जगह अमरकंटक रही हो। अमरकंटक में यह फूल उगता है, हालांकि फूल को लेकर यह निश्चित नहीं है कि फूल कहां से आया। आप इसके अर्थ पर विचार करें–बकावली यानी बगुलों की पंक्ति। इस फूल की क्यारियां बगुलों की पंक्ति जैसी दिखती है और कोई विचित्र ही बात है कि यह फूल सिर्फ़ सोन और नर्मदा के उद्गम स्थल में अर्थात अमरकंटक में ही दिखाई देता है। शायद डंकल प्रस्ताव लागू होने के साथ ही यह फूल अब अमरकंटक में ही नहीं रहेगा, बल्कि दुनियाभर में फैल जाएगा। इस फूल के अर्क से आंखों की तकलीफ़ ठीक होती है, इसलिए इसको ख़रीदने के लिए हमें बहुत सी राशि विदेशी मुद्रा के रूप में अर्जित करनी होगी। विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए हम अपने देश में उगाए गए सूत से जीन्स बना–बना भेजेंगे और हमारी असंख्य महिलाएं विदेश से आयात की गई मशीनों पर तरह–तरह के कपड़े सिलकर विदेशों में भेजा करेंगी। तब जाकर हम गुलबकावली का अर्क प्राप्त कर सकेंगे। अमरकंटक में तीन स्कूल चलते हैं। तीनों ही स्कूलों में मैंने अपनी इस जिज्ञासा का समाधान करना चाहा कि क्या बच्चे गुलबकावली की विशेषता से परिचित हैं। गुलबकावली अमरकंटक की गली–गली में दिखता है। वहां वैद्य इस फूल का अर्क बेचते हैं, शहद हैं। नेत्र रोग से पीड़ित मनुष्य को अमरकंटक पहंच कर लगता है कि अब वह स्थान आ गया है जहां से मैं

दृष्टि प्राप्त करके जाऊंगा। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि दुख होगा या क्या होगा, लेकिन इन तीनों में से किसी स्कूल में एक भी बच्चे को मैं नहीं ढूंढ़ सका जिसने यह सुना हो कि गुलबकावली फूल हातिमताई के क़िस्से में आया है, या कि वह जानता हो कि यह फूल किस मौसम में उगता है, यद्यपि ये बच्चे प्रतिदिन इस फूल को स्कूल जाते हुए देखते हैं। जहां–जहां उसकी क्यारियां है, वहां पर वर्ष के अलग–अलग हिस्सों में उन्होंने यह अवश्य देखा होगा कि फूल कब खिलता है। ज़ाहिर है कि हमारी परंपरा में जो चार आंतरिक इंद्रियां कही गई हैं– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार– उनमें से चित में गुलबकावली प्रवेश नहीं कर सकी है। वरना वह बच्चों की चेतना में अवश्य होती। वह उनके चारों ओर खिला हुआ है लेकिन पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है, इसलिए हुआ करे एक विलक्षण फूल, दिया करे लाखों लोगों को ज्योति, लेकिन वह हमारे अमरकंटक के प्राथमिक या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में ज्योति नहीं दे सकता।

आप देश के किसी भी हिस्से में चले जाइए, चाहे कोवलम नाम के केरल के ख़ूबसूरत समुद्र तट के किनारे चलती हुई पाठशाला में चले जाइए या ओरछा के प्रसिद्ध मंदिर के पीछे लगी हुई प्राथमिक शाला में चले जाइए या दिल्ली में हौजख़ास नाम के गांव में, जिसको मध्य युग में बसाया गया था, और जिसके खंडहर देखने दूर–दूर से पर्यटक आते हैं, उसके बगल में चलनेवाली प्राथमिक शाला में चले जाइए। अपने क़रीब स्थित दृश्यावली, अपने करीब स्थित प्रतीक और ज्ञान के तमाम स्रोतों की अवहेलना आपको हर जगह मिलेगी। यह बात मैं केवल चौंकाने लिए नहीं कह रहा हूं, क्योंकि इस बात से चौंकाने का मेरे लिए विशेष महत्त्व नहीं है। मैं इसको लेकर कोई बीस साल से खुद चौंकता चला आ रहा हूं। इसलिए मैं चोंकने और चौंकाने दोनों ही सुखों का उपभोग करने में अपने को असमर्थ पाता हूं। कैसी वह शिक्षा है जो हमें दूरदर्शन के प्रति तो इतना संज़ीदा बनाती है, लेकिन समीपदर्शन की कोई प्रेरणा नहीं देती?

हमारी सारी की सारी व्यवस्था इसी बात पर टिकी है कि हम इस विराट दुनिया का कितना ज्ञान जानते हैं लेकिन हम अपने क़रीब के दस पौधों को पहचान सकें, अपने माता–पिता के अतीत को जान सकें, अपने आंगन में आनेवाले दो–चार पक्षियों का जीवन–क्रम जानते हों, इतना सहज सा ज्ञान जिसमें हमारी जानने की प्रक्रिया कर्म बनती हो, ऐसा अनुभव हमारी स्कूली शिक्षा नहीं दे पाती। यह मामूली सी चीज़ है, इसमें कोई ख़ास रहस्य की बात नहीं है, लेकिन आप जितना इस विषय में सोचेंगे, उतना ही महसूस करेंगे कि यही शायद हमारी शिक्षा व्यवस्था की केंद्रीय कमज़ोरी है कि वह ज्ञान को कभी बच्चे का अनुभव नहीं बनने देती।

ज्ञान को अनुभव बनाना तभी संभव है जब वह निर्जीव या जीवित चीज़ों के संपर्क से पैदा हो। इस संपर्क की इच्छा बच्चे में पैदा करने की आवश्यकता नहीं है। आनंद की बात यह है कि बच्चा जब जन्म लेता है तो यह इच्छा उसमें स्वाभाविक रूप से होती है। वह अपने आसपास के निर्जीव और सजीव दोनों क़िस्म के जगत् को स्वयं जानना–समझना चाहता है।

यह इच्छा उसमें पहले से होती है, इसीलिए वह चीज़ों को छूता है, तोड़ता है, उलटता है, पलटता है, लोगों के साथ बात करना चाहता है और उनकी बात सुनता है। ये सारी इच्छाएं उसके स्वभाव में हैं, इनको देने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है अगर किसी बात की तो यही है कि इस स्वभाव को स्वाभाविक वृत्ति को अभिव्यक्ति मिल सके और बच्चे के आसपास जो दृश्यावली है, जो निर्जीव और जीवित जगत् है, इस जगत् को परत–दर–परत खोलने की सामर्थ्य बच्चे को मिल सके और खोलने का समय मिल सके। यह एक स्नेहशील व्यक्ति के सामीप्य में हो जो स्वयं इस प्रक्रिया में आनंद लेता हो। बस, इतनी सी बात है। लेकिन हम देखते हैं कि इस सहज बात को समझना हमारी शिक्षा व्यवस्था में संभव नहीं रह गया है। हम जितना आगे बढ़ते हैं और जितना नई नीतियों, नए उपक्रमों की ओर आगे बढ़ते हैं, वैसे–वैसे हम देखते हैं कि यह सहज बात दृष्टि से ओझल होती चली जाती है। हम नई–नई तकनीकों, नई–नई शब्दावलियों के भ्रम में ढलते चले जाते हैं।

कृष्णकुमार– एनसीईआरटी के निदेशक। स्कूली शिक्षा पर निरंतर लेखन एवं चिंतन करते हैं।

ज्ञान का निर्माण एक अंतर्क्रियात्मक उद्यम के रूप में

तिस्ता बागची

ज्ञान एक शक्तिशाली औज़ार है जो हम इन्सानों के पास है, न सिर्फ़ इसलिए कि हम जानते हैं बल्कि ख़ास तौर से इसलिए भी कि हम जो जानते हैं, उसे व्यक्त कर सकते हैं और उस पर मनन भी कर सकते हैं। प्राचीन काल से ही विभिन्न भाषाओं में ज्ञान और जानने की अवधारणाओं के लिए एकाधिक शब्द रहे हैं। संस्कृत में ज्ञ (जानना) क्रिया है जो अंग्रेज़ी के know और knowledge तथा हिंदी के जानना की सजातीय है। दूसरी ओर, यूनानी भाषा में nous का अर्थ 'सूझबूझवाला ज्ञान' या 'बुद्धि' से भी है। प्राचीन यूनानी व लैटिन के कई विशेषज्ञ बताते हैं कि यूनानी भाषा में इसके कई और बारीक़ भेद हैं। इसके अलावा लैटिन शब्द scire (जानना) तो हमारे लिए ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण पुंज व शिक्षा पद्धति और उसके उपयोगों के रूप में निहायत परिचित है जिसे हम science कहते हैं। अर्थात् जंतु जगत् में हम इस मायने में अनोखे हैं कि हम इस बात की परिभाषा करने का प्रयास कर सकते हैं कि ज्ञान वाकई क्या है। यह सही है कि ऐसे हुनर तो जंतुओं में भी हो सकते हैं और अक्सर होते भी हैं जिन्हें हम अपने नज़रिए से 'ज्ञान आधारित हुनर' कहेंगे। मसलन, जंतुओं की कुछ प्रजातियों में चंद जंगली पत्तियों व जड़ी-बूटियों का ज्ञान होता है, जो कुछ विशेषज्ञों के मुताबिक़, उन्हें पाचन तंत्र की गड़बड़ियों से होनेवाली मृत्यु से बचाता है। या कुछ पक्षी प्रजातियों में गीतों का 'ज्ञान' है जिसके बारे में अब माना जाता है कि यह 'ज्ञान' वे चूज़े की अवस्था में अपने आसपास के वयस्क पक्षियों से हासिल करते हैं। जहां तक मैं कह सकती हूं, जंतु इस हुनर को ज्ञान के उदाहरणों के रूप में नहीं पहचान पाते। दूसरी ओर, हम इन्सान संज्ञानशील और परस्पर अंतर्क्रियाशील जीव हैं। तदनुसार मानव समाज में ज्ञान की प्रणालियां संज्ञान आधारित व अंतर्क्रिया आधारित, दोनों तरह की प्रक्रियाओं से निर्मित होती हैं। यहां क्लासिसिस्ट मार्था नसबॉम द्वारा लिखे निबंध 'दी प्रोटेगोरस - ए साइन्स ऑफ प्रैक्टिकल रीज़निंग' में वर्णित उस कथा का ज़िक्र मुनासिब होगा जो नसबॉम के अनुसार प्रोमीथियस अनबाउंड नामक रचना में शामिल है। यह निबंध उनकी रचना 'दी फ्रेजिलिटी ऑफ़ गुडनेस' में है। कथा इस प्रकार है:

"बहुत पुराने समय में इन्सान धरती पर भटकते थे और उनके पास अपनी सुरक्षा का कोई तरीक़ा नहीं था। हर चीज़ एक ख़तरा थी। बारिश उनकी आवरणरहित चमड़ी को भिगो देती थी; बर्फ चुभता था; बर्फबारी काटती थी; बेबस होकर वे ज़मीन के नीचे अंधेरी गुफाओं में छिप जाते। शिकार या खेती का कोई हुनर न था जो उन्हें भोजन का ज़रिया देता; कोई पालतू पशु न था जो माल ढोता या जुताई करता; मौसम की भविष्यवाणी करने वाला कोई न था जो अगले दिन की तैयारी में मदद देता; कोई आयुर्विज्ञान नहीं जो उनके भेद्य शरीरों को चंगा करे। ना ही वे एक साझा भाषा में संवाद करके साथी इन्सानों से संवाद कर सकते थे कि कोई साझा उद्यम करे। वाणीहीनता और बियाबान उन्हें एक-दूसरे से अलग-अलग रखते थे। अलग-थलग, ख़ामोश, वे न तो अपने अतीत को अंकित कर सकते थे, न भविष्य की योजना बना सकते थे। वे तो प्रत्यक्ष तकलीफ़ में एक-दूसरे को तसल्ली तक नहीं दे सकते थे।"

प्रोमीथियस अनबाउंड से एक अनूदित उद्धरण है:

"वे सपनों में उभरती आकृतियों के समान हर चीज़ को बेतरतीबी से गड्ड-मड्ड कर देते थे, जीवन चलता तो रहता था मगर इतना बेशक्ल, बग़ैर किसी स्थिरता या संरचना के, कि यह शायद ही जीवन जैसा लगता होगा।"

तो यह था नसबॉम द्वारा सुनाया गया क़िस्सा। प्रोमीथियस के शेष मिथक के मुताबिक़ इन दुर्बल जीवों को तब *टेक्नाई* - मानव कला व विज्ञान - का तोहफ़ा मिला। मानव अस्तित्व अधिक सुरक्षित, अधिक पूर्वानुमेय और भाग्य (tuchç) के प्रति कम संवेदी हो गया। (tuchç का अर्थ है मानव अस्तित्व के वे तत्त्व जो इन्सानों के नियंत्रण से परे हैं।) मोटे तौर पर tuchç का अनुवाद भाग्य

या नियति होता है और टेक्नाई, जो मानव नियंत्रण में हैं, का अर्थ है मानव कला और विज्ञान। यह एक उदाहरण है जो मानव ख़ुशहाली के लिए ज्ञान के महत्त्व को रेखांकित करता है। ऐसे अनेक उदाहरण विश्व की विभिन्न ऐतिहासिक परंपराओं में मिल जाएंगे। मैं तो ज्ञान प्रणालियों के निर्माण में ज्ञान मीमांसा की भूमिका के मुद्दे का मात्र ज़िक्र करना चाहती हूं और यह कहना चाहती हूं कि ज्ञान प्रणालियों के निर्माण में ज्ञान मीमांसा की भूमिका को लेकर सेमीनार में उपस्थित विद्वान् सहभागियों से हमें काफ़ी कुछ सुनने को मिलेगा - ख़ास तौर से इसलिए कि ज्ञान मीमांसा का मामला शिक्षा के दर्शन में जांच पड़ताल और समझ का एक अहम दायरा है।

अब मैं संज्ञान, भाषा और ज्ञान के मुद्दे पर आती हूं। ध्यान दें कि ज्ञान और संज्ञान के परस्पर सम्बंध की अपेक्षाकृत अपर्याप्त छानबीन की गई है। कॉग्नीशन (cognition) जिस लैटिन क्रियापद कॉग्नोसेयर (cognoscere) से सम्बंधित है, उसका सीधा अर्थ 'जानना' नहीं बल्कि 'जान पाना, सीखना' और 'पहचानना' होता है। इसलिए कॉग्नीशन को सीधे-सीधे नॉलेज से जोड़ना एक तरह से ग़लत होगा। फिर भी दोनों अंतरंग ढंग से जुड़े हुए हैं। अपने आपसे यह पूछना शायद उपयोगी होगा कि यदि ऐसा कोई न हो जो ज्ञान प्रणाली के किसी भी पहलू को जान पाए, यानी संज्ञान में सक्षम किसी जीव की अनुपस्थिति में क्या कोई ज्ञान प्रणाली संभव होगी। अब ज़ाहिर है कि भाषा किसी भी ज्ञान प्रणाली को किसी समाज में सन्निहित करने में अहम भूमिका निभाती है तो ज्ञान प्रणालियों और जिस भाषा में वे सन्निहित हैं के बीच का सम्बंध उन शिक्षाविदों के लिए एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा हो जाता है जो किसी भी समाज के भावी नागरिकों के दिमाग़ विकसित करने से सरोकार रखते हैं। किसी भी ज्ञान प्रणाली के इतिहास पर एक सरसरी नज़र से ही ज्ञान की वैज्ञानिक, तकनीकी, ऐतिहासिक और दार्शनिक उप-प्रणालियों के विकास के उल्लेखनीय अंतर्सम्बंध उजागर हो जाते हैं। इससे वह भाषा माध्यम भी सामने आता है जिसका उपयोग इस ज्ञान को सन्निहित करने में किया गया है और स्वयं भाषा माध्यम की दोहरी प्रकृति भी उजागर होती है। जैसा कि आप जानते हैं, भाषा माध्यम की इस दोहरी प्रकृति को ध्वनि विज्ञान के ज्ञान और भाषा की बनावट में क़ैद किया जाता है। वाक्य बोध - वाक्यों को, प्राकृतिक भाषा के वाक्यों को समझना - एक ऐसा क्षेत्र है जहां ढांचागत ज्ञान और अवधारणात्मक ज्ञान दोनों की अंतर्क्रिया देखने को मिलती है। मनो-भाषाविद् डेविड टॉउनसेण्ड और सैद्धांतिक भाषाविद् थॉमस बेवर ने इसका विस्तृत दस्तावेज़ीकरण अपनी पुस्तक 'सेंटेंस कम्प्रीहेंशन' (2001) में किया है। 1960 के दशक से लेकर लगभग नई सदी की शुरुआत तक वाक्य बोध सम्बंधी शोध, ख़ास तौर से जॉर्ज मिलर, चार्ल्स ओसगुड, मिचेल मार्कस, बी.एल. प्रिचेट और कई अन्य शोधकर्ताओं द्वारा प्रस्तावित मॉडल्स, का हवाला देते हुए उन्होंने व्याकरण का ज्ञान और यथार्थ विश्व में चीज़ें कैसे काम करती हैं के ज्ञान, दोनों को दर्शाया है। मनुष्य जिस ढंग से प्राकृतिक वाक्यों की प्रोसेसिंग करते हैं, उसमें इन दोनों प्रकार के ज्ञान का उपयोग किया जाता है, चाहे ये वाक्य लिखित हों, मौखिक हों या संकेत भाषा में व्यक्त किए गए हों। यह मुद्दा विवाद का विषय रहा है कि अवधारणात्मक ज्ञान किस हद तक भाषा की धारणा का एक उल्लेखनीय अवयव है, जैसा कि यहां बाद में प्रस्तुत किए जानेवाले कुछ विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से साफ़ हो जाएगा। यह मुद्दा - अवधारणात्मक ज्ञान के भाषा का अवयव होने का मुद्दा - ख़ास तौर से इसलिए विवाद का विषय है क्योंकि इस बात की काफ़ी संभावना दिखती है कि सारी मानव भाषाएं उस चीज़ के अधीन हैं जिसे विचारक नोम चौम्स्की 'सार्वभौमिक व्याकरण' कहते हैं, या जिसे हाल ही में उन्होंने भाषा क्षमता' (faculty of language) के रूप में और विस्तार दिया है। 'भाषा क्षमता' यानी भाषा को जानने, हासिल करने और उपयोग करने की एक प्रजाति-विशिष्ट क्षमता जो हम इन्सानों में है। इसी की बदौलत किसी हिंदीभाषी समुदाय में पैदा हुई बच्ची सप्रयास सिखाए बग़ैर हिंदी बोलना सीख लेती है और किसी स्पैनिशभाषी समुदाय में पैदा हुआ बच्चा सप्रयास सिखाए बग़ैर स्पैनिश बोलने लगता है। यहां तक कि मूक बधिर दम्पति, जो संकेत भाषा का उपयोग करते हों, उनका बच्चा उसी संकेत भाषा में संप्रेषण करने लगता है जबकि उसे सचेत रूप से सिखाने की कोई कोशिश नहीं की जाती। इस विशेष संरचना की एक विशेष बनावट होती है, जैसा कि नोम चौम्स्की ने सन् 2000 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दी आर्किटेक्चर ऑफ लैंग्वेज' में प्रतिपादित किया है। दरअसल उस पुस्तक के संकलनकर्ता और संपादक यहां सहभागियों के रूप में मौजूद हैं। इसके

अलावा, यह विशेष क्षमता जैविक बनावट में स्थित दर्शाई जा सकती है, जो हम इन्सानों में है जबकि अन्य जंतुओं में इसका अभाव है। इस बात पर मार्क हौसर और चौम्स्की तथा डब्ल्यू.टी. फ़िच ने साइन्स पत्रिका में 2002 में प्रकाशित अपने महत्त्वपूर्ण आलेख में विचार किया है। अब चूंकि ज्ञान प्रणालियां एक ओर तो मानव मस्तिष्क की संज्ञान सीमाओं, जैसी कि भाषा के संदर्भ में लागू होती हैं, से आकार पाती हैं तथा दूसरी ओर सामाजिक व ऐतिहासिक 'ज्ञान के मार्गों' से प्रभावित होती हैं, इसलिए ज्ञान मीमांसा के किसी एक-आयामी, एकरूप नज़रिए की बजाय एक बहुआयामी, समृद्ध, बारीक़ियों से भरपूर नज़रिए की मांग हम सबसे है, हम जो संज्ञानात्मक व सामाजिक तौर पर गढ़ी गई इन ज्ञान प्रणालियों के हितग्राही और वाहक हैं। सामूहिक रूप से जी रहे हम मानव अभिकर्ताओं के हित में है कि हम ज्ञान के निर्माण में सामाजिक ज्ञान मीमांसा और ऐतिहासिक शक्तियों की भूमिका के प्रति विशेष रूप से जागरूक रहें। 1999 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'नॉलेज इन ए सोशल वर्ल्ड' में दार्शनिक एल्विन गोल्डमैन ने चार ज्ञानशास्त्रीय दायरों की पहचान की है जो ज्ञान के सामाजिक निर्माण के उल्लेखनीय स्थल हैं या जिन्हें ज्ञान के मार्गों के रूप में देखा जा सकता है। ये चार दायरे हैं:

(1) सनद (टेस्टिमनी) - प्रेक्षित जानकारी का एक व्यक्ति से अन्य लोगों तक प्रसार।

(2) तर्क - विमर्श जिसमें लोग न सिर्फ़ तथ्यात्मक दावे प्रस्तुत करते हैं बल्कि उसके समर्थन में साक्ष्य या कारण भी प्रस्तुत करते हैं।

(3) संचार की टेक्नॉलॉजी और अर्थशास्त्र - पुराने ज्ञान के प्रसार और नए ज्ञान के अर्जन, दोनों में ही संचार निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है। लिहाज़ा, प्रागैतिहासिक काल से संचार की टेक्नॉलॉजी के विकास को समझने और ख़ास तौर से ज्ञान के निर्माण की राजनीति को समझने के लिए ज्ञान निर्माण व प्रसार का स्थानीय व वैश्विक दोनों स्तरों का अर्थशास्त्र महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

(4) अभिव्यक्ति का नियमन और विचारों की मण्डी - 'संचार की टेक्नॉलॉजी और अर्थशास्त्र' के जिस स्थल की बात ऊपर की गई, उसी से निकटता से सम्बंधित चौथा दायरा है जहां ज्ञान निर्माण की 'पहरेदारी' अक्सर सबसे स्पष्ट नज़र आती है। गोल्डमैन हमारे जैसी व्यवस्था में इस ज्ञानशास्त्रीय स्थल का अपेक्षाकृत उदासीन राजनैतिक रुख़ अपनाते हैं, जहां ज्ञान के निर्माण में ऐतिहासिक रूप से सनद की भूमिका विशेष रूप से अहम रही है। यह वह दायरा है जिसमें सामाजिक क्षेत्र में ज्ञान के नियमन की राजनीति हम सबके लिए एक महत्त्वपूर्ण मामला बन जाती है। इनके अलावा गोल्डमैन ज्ञान के सामाजिक निर्माण के 4 विशेष दायरे परिभाषित करते हैं। एक बार फिर, मैं सिर्फ़ इनका ज़िक्र करूंगी। मुझे उम्मीद है कि अन्य व्याख्यानकर्ता इन विशेष दायरों के बारे में काफ़ी कुछ कहेंगे। तो क्रम संख्या को जारी रखते हुए पांचवें दायरे पर चलते हैं।

(5) विज्ञान - जिसके बारे में हम इस सेमीनार में काफ़ी बातचीत की उम्मीद कर सकते हैं।

(6) कानून - कानून की संस्थाओं, विधानों, न्याय क्षेत्र के सिद्धांतों और दक्षिण एशिया के कानूनी इतिहास के ख़ास संदर्भ में पारंपरिक कानून का निर्माण।

(7) प्रजातंत्र - गोल्डमैन ने लगभग पूरा ध्यान चुनावी प्रजातंत्र पर केंद्रित किया है मगर हमारे संदर्भ में प्रजातंत्र के कई अन्य पहलुओं, जैसे भारत में प्रजातंत्र की संवैधानिक धारणा और प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व की राजनीति, पर विशेष ध्यान देना होगा।

और अंतिम मगर महत्त्व में अंतिम नहीं

(8) शिक्षा, जिसके बारे में मैं आगे कुछ और जोड़ूंगी।

गोल्डमैन अपनी पुस्तक के शुरू में ही कह देते हैं कि जानकारी की तलाश मानव जीवन की एक अभिन्न गतिविधि है। हम आसमान को ताकते हैं कि क्या बारिश होनेवाली है, हम ख़बरें देखतें हैं कि पता चले कि कौन चुना गया है, या हम अख़बार पढ़ते हैं या रेडियो सुनते हैं। जानकारी को ज्ञान के अलग-अलग दायरों में व्यवस्थित करने को ज्ञान के सामाजिक प्रबंधन की रणनीति के रूप में देखा जा सकता है। अलबत्ता, मैं (फ़िलहाल) गोल्डमैन के विशेष दायरों को ज्ञान के सामाजिक दायरों का अंतिम विभेदीकरण की बजाय मात्र एक शुरुआती पहचान के रूप में, आगे और खोजबीन व विचार-विमर्श के शुरुआती बिंदु के रूप में देखना

चाहूंगी। गोल्डमैन इन सामाजिक दायरों को उनके ही शब्दों में 'सत्य की शुद्ध संकल्पना' के रूप में परिभाषित करने के हिमायती हैं। इन पर संदर्भ द्वारा आरोपित किसी विशिष्टता का असर नहीं होता क्योंकि सत्य का सम्बंध यथार्थ की विशिष्टताओं से होता है। अलबत्ता, मेरे मत में यह एक सीमा है जिसके निहितार्थ गंभीर हैं जिनके बारे में संज़ीदा व सार्थक ढंग से बात करने की ज़रूरत है।

अब मैं शिक्षा व ज्ञान के बारे मैं कुछ कहूंगी, इस चेतावनी के साथ कि मैं शिक्षा विशेषज्ञ नहीं हूं और इसलिए यह कहना चाहती हूं कि ज्ञान प्रणालियों और शिक्षा के दायरे व प्रक्रियाओं के परस्पर सम्बंध की छानबीन एक विस्तृत और बहुआयामी उद्यम होगा। बहरहाल, अध्यापकों द्वारा जो ज्ञान अपने शिष्यों को देने और साथ ही उनसे उगलवाने की अपेक्षा की जाती है, उससे सम्बंधित चंद अपेक्षाकृत विशिष्ट मुद्दों को देखना लाभप्रद होगा। (अंग्रेज़ी शब्द एडूकेशन का लैटिन मूल एडूक्टायर है जिसका मतलब 'परवरिश' या 'प्रशिक्षित करना' होता है। जैसा कि आप जानते हैं, इसी के समान एक क्रियापद का सम्बंध 'खींचकर निकालना' या 'lead out' से भी होता है।) मैं इस बात पर ख़ास ज़ोर देना चाहूंगी - शब्द विश्लेषण के प्रति किसी आदर भाव के चलते नहीं बल्कि इसलिए कि यह शिक्षकों के रूप मे हममें से कई के अनुभव का एक अंग है। हममें से अधिकांश लोग ऐसे अनुभव बता सकेंगे जब बाल मस्तिष्क सर्वथा नया ज्ञान और किसी पुराने सवाल को हल करने का सर्वथा नया तरीक़ा खोज निकालते हैं। मैं शिक्षा के महत्त्वपूर्ण मुद्दों उन बाल मस्तिष्क जिन्हें हम शिक्षित करना चाहते हैं, के संदर्भ में उठाना चाहूंगी। जो बात मैंने अभी कही थी उसका इससे गहरा सम्बंध है। हमसे अपेक्षा क्या है - अपने छात्रों को ज्ञान प्रदान करें या उस ज्ञान को जागृत करें जो उनके दिमाग़ में पहले से है? या क्या हमसे इन दोनों का कोई समुचित अनुपात हासिल करने की अपेक्षा है? शिक्षा की प्रक्रिया से सम्बंधित मेरी बात से जुड़ा एक और अहम मुद्दा शिक्षा के व्यावहारिक लक्ष्य का है। विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के कारोबार से जुड़े हममें से कई लोगों को छात्रों के पालकों और करदाता जनता से इस तरह के सवाल झेलने पड़ते हैं हमारे बच्चे उस ज्ञान का क्या उपयोग करें जो वे कक्षा में हासिल करते हैं? यह ज्ञान उन्हें भावी कैरीयर तथा व्यवसाय के लिए कैसे तैयार करता है? यह ज्ञान हमारे बच्चों को भावी वयस्क जीवन में किस तरह की हसरतें रखने में मदद करेगा? मैं जानती हूं कि यहां बैठे शिक्षाविद् सहमत होंगे कि ये सवाल शिक्षाविदों के सबसे पसंदीदा सवाल नहीं हैं। मगर बतौर अध्यापक हमारे लिए इनसे मुंह मोड़ना मुश्किल होगा क्योंकि ये वे सवाल हैं जो शिक्षा पानेवाले तब खुद ही पूछने लगते हैं, जब वे व्यक्ति के रूप में और एक सामाजिक प्राणी के रूप में स्वयं के प्रति सचेत होने लगते हैं। लिहाज़ा यह ज़रूरी है कि या तो हम इन सवालों को झेलना सीख लें या शायद इन सवालों के संभव जवाब तैयार कर लें ताकि अकादमिक व्यक्तियों के रूप में हम कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में निरर्थक नज़र न आएं।

तीसरा मुद्दा चेतना और शिक्षा से उसके सम्बंध का है। मेरी राय में इस मुद्दे को पर्याप्त तार्किक ढंग से संबोधित नहीं किया जाता है, कुछ हद तक तो इसलिए कि चेतना के साथ अध्यात्म और रहस्यवाद की धारणाएं जुड़ गई हैं, ख़ासकर कुछ क़िस्म के लोकप्रिय स्तरों पर, जैसे आम मीडिया के लोक लुभावन विमर्श में। अलबत्ता, छात्रों के साथ काम करते हुए शिक्षक का सामना स्वचालित यंत्रों (ऑटोमेटा) से नहीं बल्कि सचेतन प्राणियों से होता है। वैसे यह हो सकता है कि छात्रों से जो कार्य करने की अपेक्षा की जाती है उनके लिए, निर्माण व खोजबीन के क्षेत्र के अनुसार, ऐसे हुनर लगते हैं जो डिज़ाइन व प्रशिक्षण के बाद किसी स्वचालित यंत्र से दोषरहित ढंग से करवाए जा सकते हों। इसके अलावा इन सचेतन प्राणियों को आम तौर पर समूहों में काम करना होता है। ये सचेतन प्राणी वैसे ही हैं जैसे हम सब हैं। दुनिया में रॉबिन्सन क्रूसो तो बिरले ही होते हैं। बहरहाल, एक प्राणी सचेतन प्राणी कैसे बनता है? यदि हॉफस्टेटर और डेनेट के लेख 'दी माइन्ड्स आई' की मनोरंजक वक्रोक्तियों से भरपूर साहित्य सूची को देखें तो लगता है कि इस सवाल पर पिछले कुछ दशकों में काफ़ी ध्यान दिया गया है। वास्तव में ये सवाल सदियों से पूछा जाता रहा है और हाल के विश्लेषण - डेविड चाल्मर्स की ग़ौरतलब दार्शनिक पड़ताल 'दी कॉन्शियस माइन्ड' और उदाहरण के लिए सुज़न ग्रीनफील्ड द्वारा 'दी प्रायवेट लाइफ ऑफ दी ब्रेन' (ग्रीनफील्ड 2000) - में यही सवाल तंत्रिका-मनोवैज्ञानिक नज़रिए के रूप में हमारे सामने हैं।

अब मैं ज्ञान के अंतर्क्रियात्मक निर्माण पर संक्षेप में कुछ कहना चाहूंगी। मुझे यक़ीन है कि सेमीनार के दौरान इस पर

भी काफ़ी कुछ और कहा जाएगा। जब से मानव जाति को यह इल्हाम हुआ है कि ज्ञान ताकत है, तब से ही यह स्पष्ट है कि समाज के ज़्यादा शक्तिशाली लोगों द्वारा ज्ञान के सृजन और संग्रह पर नियंत्रण को तरजीह दी जाने लगी। यहां मैं अपने एक समीक्षा आलेख से उद्धरण पेश करने की इजाज़त चाहूंगी जो दो वर्ष पूर्व लिटिल मैग्ज़ीन में छपा था। "दुनियाभर में लेखन का इतिहास सामाजिक-राजनैतिक व धार्मिक सत्ता के द्वन्द्व से जुड़ा रहा है। मिसी, हिएरोग्लिफ्स, शंकु लिपि, एसिरियाइ-बेबीलोनियन और एन्टोलियन अभिलेखों, मध्य अमेरिका के क्लासिकल माया ग्लिफ्स, प्राचीन फारसी भाषा में चट्टानों पर बेहिस्तान अभिलेख, और दक्षिण एशिया में ब्राह्मी लिपि में प्राचीन प्राकृत अशोककालीन आदेश, सभी अलग-अलग हद तक इस तरह की सामाजिक-राजनैतिक और धार्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में देखे जा सकते हैं।" ज्ञान व ताक़त पर इस तरह के नियंत्रण की कोशिशें आज के सूचना युग में चारों ओर नज़र आती हैं। इस सम्बंध में मैं 'एक्यूरेसी इन एकेडेमिया' नामक संस्था की भूमिका को रेखांकित करना चाहूंगी। यह संस्था संयुक्त राज्य के वाशिंग्टन में स्थित है और इसकी वेबसाइट www.academia.org ज्ञान प्रसार के ऐसे क्षेत्रों के बारे में सूझबूझ प्रदान करती है जो विवादास्पद माने जाते हैं और ग़ौरतलब बात यह है कि संयुक्त राज्य में वर्तमान में हावी राजनैतिक सत्ता द्वारा इस पर कोई गंभीर सवाल नहीं उठाया जाता। विवादास्पद माने जानेवाले अध्ययन के ये क्षेत्र हैं उपनिवेशोत्तर अध्ययन, नस्ल सम्बंधी अध्ययन, जेंडर सम्बंधी अध्ययन; और यहां तक कि उदारवादी विचारों के इतिहास के कुछ महान् ग्रंथों को भी इस वेबसाइट पर विवादास्पद चिह्नित किया गया है। हमारे अपने संदर्भ में उस विवाद को भी ज्ञान निर्माण पर नियंत्रण की इच्छा ही माना जाना चाहिए जो कुछ हद तक, एक राष्ट्र के रूप में अपने इतिहास के घरेलू संस्करण की मांग, जिस मांग के आधार पर मेरी राय में काफ़ी राजनैतिक पूंजी बनाई जा सकती है, और वस्तुनिष्ठता व तार्किक रूप से परिभाषित सत्य पर आधारित, साथ में सामाजिक-ऐतिहासिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए, हमारे इतिहास के एक संतुलित ब्यौरे की मांग के बीच तनाव का परिणाम था। मुझे पता है कि यह एक विवाद का मुद्दा है और इसलिए मैं उम्मीद करती हूं कि इस सेमीनार में पधारे विद्वानों से इस पर काफ़ी कुछ सुनने को मिलेगा। ख़ास तौर से इतिहास के निर्णायक पड़ावों पर ज्ञान निर्माण के ऐसे एकरूप प्रयास और समाज के प्रभुत्वसंपन्न समूहों द्वारा अनुचित ढंग से ज्ञान प्रणालियों पर एकाधिकार जमाने के प्रयास समस्यामूलक बने हैं। हमारे अपने अतीत में हम उपनिषद् की वह कथा याद कर सकते हैं जब याज्ञवल्क्य अपनी सवाल उठाती पत्नी के विरुद्ध अपनी 'ज्ञानी पुरुष' की सामाजिक प्रतिष्ठा का बचाव यह कहकर ही कर सके थे कि यदि उसने सवाल उठाना बंद न किया तो उसका सिर कलम कर दिया जाएगा। इसी प्रकार से महाभारत में एकलव्य की कथा है जो यहां दोहराने की ज़रूरत नहीं है। और उन्नीसवीं सदी में ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा यह खोज की गई - या कम से कम उन्होंने इसे लोगों के सामने रखा - कि धर्म ग्रंथों में विधवा विवाह की अनुमति है जिसके आधार पर सख़्त सामाजिक विरोध के बावजूद विधवा विवाह के हक़ में कानूनी सुधार हुए। ये कुछ क़िस्से हैं जिन्हें हम शायद याद करना चाहेंगे। हममें से कई के लिए पढ़ाने का मज़ा ही इस बात में है कि हम छात्रों से जो कुछ कहना चाहते हैं, उस पर उन छात्रों द्वारा सतत् सवाल उठाए जाएं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो दरअसल शिक्षक के लिए भी सीखने का मौक़ा बन जाती है। इसलिए मैं इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने का आग्रह करूंगी। ज्ञान व वैज्ञानिक तरक़्क़ी के बारे में बहुत संक्षेप में कुछ कहूंगी और जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया इस दुनिया को समझने के लिए भी महत्त्व रखती है और इन्सानों की ज़िन्दगी को बेहतर बनाने की दिशा में काम करने की हमारी क्षमता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। लिहाज़ा वैज्ञानिक तरक़्क़ी की धारणा को - ख़ासकर सामान्य ज्ञान निर्माण के संदर्भ में - बेहतर समझने में हमारी विशेष रुचि है। अब विज्ञान के समाज विज्ञान व दर्शन के सम्बंध में - मोटे तौर पर, बारीक़ियों में न जाते हुए - दो भिन्न मत हैं कि विज्ञान में प्रगति कैसे होती है। विज्ञान के दार्शनिक व समाज वैज्ञानिक स्व. थॉमस कुह्न द्वारा प्रस्तुत नज़रिया अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रचलित है। इसके मुताबिक़ वैज्ञानिक खोजबीन व खोजों के साथ वैज्ञानिक मान्यताओं के पुंजों (paradigm) के बनने-बिगड़ने के ज़रिए विज्ञान की तरक़्क़ी होती है। कुह्न के मुताबिक़ 'मानक विज्ञान' (normal science) में कोई वैज्ञानिक पैराडाइम तब तक हावी रहता है जब तक कि ऐसी काफ़ी

सारी असामान्यताएं इकट्ठी न हो जाएं जिनकी व्याख्या इससे न की जा सके। इस समय पर संकट का बिंदु आ जाता है। जब वर्तमान पैराडाइम इस संकट से सफलतापूर्वक नहीं निपट पाता है, तो पैराडाइम-परिवर्तन होता है।

वैज्ञानिक तरक़्क़ी का एक और ग़ौरतलब नज़रिया है - जो बहुत लोगों को पता नहीं है मगर इस सम्मेलन में कई लोगों को पता है - जिसका प्रवर्तन दार्शनिक स्व. कार्ल पॉपर ने किया था। यह नज़रिया उनकी मिथ्याकरण (फाल्सीफिकेशन) की महत्त्वपूर्ण धारणा पर आधारित है। यह धारणा सार्वभौमिक है और मात्र वैज्ञानिक सिद्धांतों के पैराडाइम आधारित मूल्यांकन की कसौटियों पर नहीं टिकी है। पॉपर का मत था कि मानव ज्ञान की वृद्धि मानव इतिहास के विकास का कारक है - वे अपने एक लेख में सचमुच यह बात कहते हैं - और ज्ञान की यह वृद्धि सत्यापनीयता की किसी अंतिम धारणा पर आधारित नहीं रही है बल्कि इस बात पर आधारित रही है कि किस बात को स्पष्ट रूप से ग़लत साबित किया जा सकता है और किसे नहीं। कुछ हद तक कुह्न के पैराडाइम परिवर्तन के ज़रिए वैज्ञानिक तरक़्क़ी के वर्णन के विरुद्ध पॉपर इस मत को आगे बढ़ाते हैं कि हम अपनी ग़लतियों से भी सीख सकते हैं। उन्होंने इस बात को वाकई 1969 की एक पुस्तक की भूमिका में कहा भी है। उन्होंने जॉन एकल्स के साथ मिलकर लिखी गई और 1984 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दी सेल्फ एण्ड इट्स ब्रेन' में इसी आधार पर संज्ञान की वैज्ञानिक समझ तक पहुंचने का प्रयास भी किया था। यानी कुछ मायनों में मोटे तौर पर कुह्न की अपेक्षा पॉपर वैज्ञानिक तरक़्क़ी के संग्रहकारी नज़रिए की ओर ज़्यादा झुके हुए हैं; ज़ाहिर है, विशेषज्ञों के पास इस बात को लेकर सवाल होंगे। तो, मैं यह आग्रह करना चाहूंगी, कि वैज्ञानिक दायरे में ज्ञान की प्रगति के इन दोनों नज़रियों का आकलन, इस आधार पर करना होगा कि वास्तविक ज्ञान प्रणालियों के निर्माण के बारे में हम क्या पता कर सकते हैं। मेरी राय में, उदाहरण के तौर पर, भारतीय परंपरा में वैज्ञानिक व दार्शनिक ज्ञान का विकास वैज्ञानिक प्रगति के संदर्भ में कुह्न और पॉपर दोनों के सिद्धांतों के लिए तुलना का एक रोचक क्षेत्र है। मेरा मत है कि प्राचीन भारत में भाषा और भाषागत संज्ञान के सैद्धांतिक कार्य का आलोचनात्मक विवेचन कुह्न और पॉपर के सिद्धांतों के तहत होना शेष है। और अब मेरे सरोकार बाबत मैं यह बताना चाहूंगी कि, वैचारिक पेचीदगियों से परे, पॉपर इस मत के समर्थक थे कि वैज्ञानिक व अन्य ज्ञान-व्यवसायी नायक नहीं हैं, वे आम लोगों के सवालों से ऊपर नहीं हैं, बल्कि हरेक को उनके सिद्धांतों और उनकी विशेषज्ञता को चुनौती देने का अधिकार है। यह साफ़ तौर पर ज्ञान के बंद नज़रिए के ख़िलाफ़ है जहां ज्ञान को स्वनामधन्य 'रखवालों' की किसी मंडली का एकाधिकार माना जाता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि ऐसे विशेषज्ञों की कोई ज़रूरत ही नहीं है जिनके पास सम्बंधित विषय में प्रशिक्षण और जुड़ाव के चलते साधारण जनता की अपेक्षा बेहतर योग्यता है। अलबत्ता, आप देखिए कि यह इस मत को ज़रूर एक चुनौती देता है कि किसी भी ज्ञान प्रणाली व परिभाषा से ही, निर्विवाद सम्मान मिलना चाहिए, और ख़ासकर यदि उस ज्ञान प्रणाली को सदियों या शायद सहस्त्राब्दियों से सामाजिक ताक़त व सत्ता की स्वीकृति हासिल रही हो। अध्यापकों, शोधकर्ताओं और छात्रों से मेरा आग्रह है कि यह एक नैतिक ज़रूरत है कि वे इस तरह मूक आदर भाव में फंसने के प्रति सावधान रहें, ख़ास तौर से इसलिए भी कि अक्सर आलोचना करने व सवाल उठाने की अपेक्षा यह ज़्यादा सुविधाजनक विकल्प होता है। इससे बचने के लिए ज़रूरी है कि दिमाग़ लगातार सक्रिय हो और आसपास की घटनाओं के प्रति चौकन्ना हो।

तो, निष्कर्ष यह है कि हमारे सामने जो काम है वह चुनौतियों भरा है। अध्यापकों के रूप में कारगर होने के लिए यह जानना हमारा एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि ज्ञान का निर्माण कैसे होता है। दुनिया के जिस हिस्से में हम रहते हैं - दक्षिण एशिया - वहां तो यह कहीं अधिक चुनौती भरा काम है। यहां प्राचीन काल से ही सामाजिक व राजनैतिक उथल-पुथल के चलते ज्ञान का विकास इतना पेचीदा और समृद्ध रहा है, और यहां आज भी ज्ञान के निर्माण के क्षेत्र में विकास जारी है जिसके कुछ पहलू तो अत्यंत रोमांचक हैं मगर कुछ पहलू बेचैन करनेवाले हैं। यह एक चुनौतीपूर्ण काम इसलिए भी है कि विश्व स्तर पर ज्ञान के उत्पादन और प्रसार की राजनीति की मौजूदा पेचीदगियां भी हमें प्रभावित करती हैं।

विद्या भवन सोसायटी द्वारा प्रकाशित **ज्ञान का निर्माण** से साभार। तिस्ता बागची, दिल्ली विश्वविद्यालय।

निर्माणवाद किस चिड़िया का नाम है?

हृदय कांत दीवान

आजकल संरचनावाद की बहुत बात हो रही है। आगे बढने से पहले इस शब्द के बारे में सोचना अच्छा रहेगा। अंग्रेज़ी में 'Construction' याने बनाना, रचना करना अथवा निर्माण करना से उपजा शब्द यह अहसास दिलाता है कि इसमें कुछ निर्माण होने की बात है। यह निर्माण सीखने के संदर्भ में है, इसलिए इसमें बच्चे भी शामिल हैं और ज्ञान भी। सीखने–सिखाने की बात करते समय इन दोनों का शामिल रहना अनिवार्य हो जाता है। संरचनावाद की, कई तरह की व्याख्याएं की जाती हैं। ये व्याख्याएं इसे मान्य ज्ञान को निर्धारित करने के ढांचे से लेकर मात्र एक विधि के रूप में देखती है। चूंकि इस अवधारणा का आजकल हम बहुत इस्तेमाल करते हैं इसलिए यह समझना आवश्यक हो जाता है कि इन व्यापक दायरों में आनेवाली परिभाषाओं में क्या–क्या अंतर है और इनके निहितार्थ क्या–क्या हो सकते हैं? इस तरह की शब्दावली और उनकी अल–अलग समझ हमेशा से विमर्श को प्रभावित करती रही है। हमारी हाल की शैक्षिक शब्दावली में बाल केन्द्रित, गतिविधि आधारित, बहुकक्षीय – बहु स्तरीय, न्यूनतम अधिगम स्तर, निर्धारित दक्षता आधारित जैसे कई शब्द व्याप्त रहे हैं। इनके सभी के अर्थ की व्याख्याएं भी विभिन्न रूप में हुई हैं और कक्षा तक पहुंचते–पहुंचते ये सभी शब्द लगभग किसी भी स्पष्ट अर्थ के विहीन हो जाते हैं।

इस बात को समझाने के लिए यहां कुछ उदाहरण देना उपयोगी रहेगा। 'न्यूनतम अधिगम स्तर' का एक अर्थ तो यह हो सकता है कि हम कक्षा में कई तरह के व्यापक मुद्दों का अभ्यास करवाएं और बच्चे उनसे जूझकर सीखें। यह प्रक्रिया ऐसी हो जिसमें बच्चे सोचने, करने व भागीदार होने के लिए उत्साहित हों। इस उपयोग की सामग्री का कुछ हिस्सा हम ऐसा चुनें जिससे यह तय कर सकें कि छात्रा अगली कक्षा के लिए आवश्यक क्षमता हासिल कर पाई है या नहीं। याने वह आवश्यक बुनियादी समझ जो उस बच्ची को अगले स्तर पर शामिल करे नहीं तो वह सीख नहीं पाएगी। यह अर्थ भी यह मांग करता है कि हमें पता है कि हर कक्षा के शुरू में बच्चों को क्या–क्या आ ही जाना चाहिए। हम अब यह जानते हैं कि जानने में व सवाल का उत्तर नहीं दे पाने में हमेशा एक से एक की संगति नहीं है। यह भी निर्धारित करना आसान नहीं है कि किसी बच्चे को कुछ आ गया है या नहीं। यहां भी यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि न्यूनतम अधिगम स्तर की व्यावहारिक व उस पूरे दस्तावेज़ के पीछे छिपी सैद्धान्तिक समझ इसमें बहुत फ़र्क़ है। कुछ इसके बारे में बात करना ज़रूरी है।

न्यूनतम अधिगम स्तर जिस तरह से निर्धारित है, उसमें यह सुनिश्चित करवाने का प्रयास है कि किसी भी कक्षा के अंत में कोई भी छात्र उस विषय के अलग–अलग हिस्सों में क्या–क्या तो सीख ही जाएगा। याने पहलेवाले अर्थ से बिल्कुल ही अलग। पहलावाला यह पता करना चाहता है कि इसमें क्या सीखा है और दूसरा यह तय करना चाहता है कि क्या सीख ही लेना है। और धीरे–धीरे इसका अर्थ यह हुआ कि न्यूनतम अधिगम स्तर (न्यूस) यह तय करेगा कि किसी कक्षा में क्या सिखाना है।

इस निर्धारण को मापन योग्य टुकड़ों में बांटकर स्पष्ट तौर पर लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। टुकड़ों की अभिव्यक्ति ऐसी भाषा में की गई है जिससे एक आभास हो कि अपेक्षा याद रखने की न होकर, उस कार्य को कर पाने की है। इसे दक्षता आधारित समझ का नाम भी दिया गया है। इन छोटी–छोटी दक्षताओं को हासिल करने की कोई सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक समझ तो प्रस्तुत नहीं की गई है किन्तु इससे उभरी चर्चाओं व उपयोग के ढांचों में यह स्पष्ट है कि अभ्यास व दोहराने को इनको हासिल करने

का एक प्रमुख हथियार माना गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक जैसी परिस्थितियों से गुज़रने पर सभी सीख सकते हैं और लगभग एक जैसा ही सीख सकते हैं। 'क्षमताएं' हासिल करने का क्रम सभी के लिए एक समान है और उसका अनुभवजनित निरूपण किया जा सकता है। यही निरूपण एमएलएल आधारित पाठ्यक्रम का आधार है। याने एक बात जो शुरू हुई कि बच्चों में कुछ क्षमताएं आ जाना आवश्यक है, जिससे वे आगे भी सीख सकें और बग़ैर इस पर विचार किए कि 'क्षमता' शब्द का क्या अर्थ माना जा रहा है, यह चिन्ता किए बिना कि कैसे पता करें कि अगली कक्षा के लिए क्या आवश्यक है, या यह बिना सोचे कि क्या यह टुकड़ों में एक–एक कर हासिल की जा सकती है? इस विचार को पाठ्यक्रम ही नहीं सम्पूर्ण पाठ्यचर्या निर्धारित करने का आधार बना लिया गया।

इस अनुभव के बारे में बात करना दो कारणों से आवश्यक था। एक तो जो मैंने बताया कि शब्दों के पीछे छिपे अर्थ और भाव सम्पूर्ण ढांचे के संदर्भ में ही व्याख्यायित हो सकते हैं। इससे हमें संरचनाकार के बारे में सोचते समय सचेत रहने की प्रेरणा मिलेगी। दूसरा, यह कि संरचनावाद की जो अभी बात हो रही है उसका संदर्भ क्या है? संरचनावाद की जो बात हम कर रहे हैं वह विचारात्मक रूप में न्यूनतम अधिगम से दूर जाने के प्रयास में है। जो बंधन और जकड़न न्यून स्तर में है और जो शिक्षा की धारणा उसमें छिपी है वह एक बहुत बड़ी समस्या है। इस धारणा से हटने के प्रयास के लिए कई और तरह की शब्दावली भी उपयोग हुई है। उदाहरण के लिए बाल केन्द्रित, गतिविधि आधारित, मनन के मौक़े आदि–आदि। प्रश्न यह है कि इन सब शब्दों का अर्थ क्या है? इसी तरह जब हम संरचनावाद की बात करते हैं तो यह समझना ज़रूरी हो जाता है कि इसका अर्थ क्या है और उसका कक्षा, शिक्षक व बच्चों समेत सभी पहलुओं से क्या संबंध है?

इसमें से 'गतिविधि आधारित' पर पहले ध्यान दें। यहां मुख्य शब्द 'गतिविधि' है। 'गतिविधि' का क्या अर्थ है और उस गतिविधि आधारित कक्षा में क्या होगा? यह इसकी सार्थकता को समझने के लिए आवश्यक है। इसके अर्थों को समझने के लिए इन उदाहरणों को देखें। पहला सेट – ''कक्षा में शिक्षक बच्चों के साथ पहाड़े के गीत गा रहे हैं।'' सभी बच्चे ज़ोर–ज़ोर से और उत्साह से दोहरा रहे हैं।

''कक्षा में एक बच्चा खड़ा होकर टुकड़े–टुकड़े करके पढ़ रहा है, सभी बच्चे जो वह कर रहा है उसे दोहरा रहे हैं।''

''बच्चे विज्ञान के प्रश्नों के शिक्षक द्वारा लिखवाए गए उत्तर बारी–बारी से पढ़कर सुना रहे हैं।''

''जो सवाल शिक्षक बोर्ड पर करवा चुका है, उन्हें ही बोर्ड पर लिखा गया है और शिक्षक देखता है कि कौन सबसे पहले उत्तर लिखकर दिखाता है।''

''बच्चे ज़ोर–ज़ोर से अ से ज्ञ तक वर्णमाला 'कोरस' में दोहरा रहे हैं।''

''शिक्षक द्वारा बोर्ड पर बनाए गए सुन्दर चित्र की सभी बच्चे अपनी कॉपी में नक़ल कर रहे हैं''

या फिर

दूसरा सेट – ''बच्चे छोटे–छोटे समूह में बैठकर नए पाठ को पढ़ रहे हैं व एक दूसरे से उस पर बात कर रहे हैं और फिर उन्होंने क्या समझा प्रस्तुत कर रहे हैं और उस पर सभी चर्चा कर रहे हैं।''

''बच्चे बाज़ार में, बाग़ में, नदी या तालाब पर गए हैं और वहां सभी चीज़ों को ध्यान से देखकर अपने अवलोकन लिख रहे हैं।''

''बच्चे कुछ पंक्ति की कविता गा रहे हैं और फिर उसमें ताल व अर्थ का ध्यान रखते हुए उसे आगे बढ़ा रहे हैं।'' क्या आपको इन दोनों सेट में कोई अंतर लगता है? पहला सेट ज़्यादातर दोहराने का है, जिसमें बच्चों की भागीदारी तो है किन्तु वह सीमित प्रकार की है।

इससे यह स्पष्ट है कि मात्र एक ही तरह के शब्दों के उपयोग से यह तय नहीं होता कि हम एक ही बात कर रहे हैं। इसी तरह 'बाल केन्द्रित' शब्द के भी कई अर्थ हैं। एक मायने में करके सीखना, गतिविधि आधारित, बाल केन्द्रित शब्दावली को संरचनावाद या निर्माणवाद से जोड़ा जा सकता है। इसका स्रोत सीखने की प्रक्रिया की उस समझ में है, जिसमें माना जाता है कि बच्चे अनुभवों

के आधार पर और उनके अपने पूर्व के अवधारणात्मक ढांचे के संदर्भ में विश्लेषित करके सीखते हैं। हर बच्चे में अवधारणाओं का अपना ढांचा होता है, जो जन्म से हुए उनके अनुभवों के विश्लेषण से बनता है। यह ढांचा नये अनुभवों को अपने में शामिल करता रहता है। यदि कोई अनुभव ऐसा हो वह उस ढांचे में ठीक नहीं बैठे तो ढांचे में बदलाव की ज़रूरत होती है। क्योंकि हमारे अनुभव करने का, महसूस करने का तरीक़ा अलग–अलग होता है। इसलिए हर एक इन्सान का अवधारणात्मक ढांचा अलग–अलग होता है। छोटे बच्चों में यह ढांचा उम्र के साथ विस्तारित व सुदृढ़ होता रहता है।

ज्ञान को अख़्तियार करने की इस समझ को निर्माणवाद कहते हैं और यह पियाज़े व साथियों और उनसे पहले और बाद के लोगों के कार्य पर आधारित है। हालांकि पियाज़े ने सीखने–सिखाने के बारे में कुछ नहीं कहा था और इसे बाल विकास को समझने के लिए प्रस्तुत किया था। फिर भी अन्य लोगों ने इस सिद्धान्त को सीखने–सिखाने के बारे में अपनी बात कहने के लिए उपयोगी पाया और इसे अपने तर्कों का आधार बनाया। निर्माणवाद की एक दूसरी समझ भी है। यह समझ बच्चे के ढांचे के निर्माण व नयी अवधारणाओं के उसमें सम्मिलित होने के बारे में तो ज़्यादा बात नहीं कहती परन्तु यह ज़रूर कहती है कि बच्चे द्वारा ज्ञान के निर्माण के लिए वयस्कों के साथ व पूरे समाज के साथ अंतःक्रिया करना ज़रूरी है। इन्सानी समाज द्वारा हासिल ज्ञान इस तरह की अंतःक्रियाओं से ही बच्चे तक पहुंचता है। वायगोस्की व उसके सहयोगियों द्वारा रखी गई इस समझ की वार्तालाप व भाषा की भूमिका को महत्त्व दिया गया है और इस बात को भी कि बच्चों की सीखने की परिस्थिति होती है और उस समय वह एक दायरे में आनेवाली अवधारणाएं ही सीख सकता है। एक कुशल शिक्षक (वयस्क) यह जान सकता है कि ऐसी कौन सी अवधारणाएं हैं जो बच्चे के लिए सीखनी संभव हैं और वह उनके साथ जूझ सकता है। वायगोत्स्की और उसके साथी यह भी बताते हैं कि बच्चे के साथ अंतःक्रिया इस पर निर्भर होनी चाहिए कि वह अवधारणा सीखने की किस स्थिति में है। जैसे क्या वह वयस्क के साथ ही उस पर कार्य कर सकता है या फिर थोड़ा ख़ुद भी कर सकता है। शिक्षक बीच में या वह अब इतना सक्षम है कि पूरी क्रिया वह ख़ुद कर सकता है और उसे आगे भी बढ़ा सकता है।

दोनों बच्चे के सीखने की प्रक्रिया के बारे में है। ज्ञान क्या है और कौन से ज्ञान को सही माना जाएगा उसके निर्धारण के बारे में कुछ बात नहीं कहते। पियाज़े व साथियों के काम में वयस्कों की भूमिका, भाषा की भूमिका के बारे में उस तरह से बात नहीं कही गई है, जैसे की वायगोस्की के साथियों ने कही है। दोनों में ही बच्चे के स्वयं करने व करने की प्रक्रिया में जूझने को सीखने की प्रक्रिया का सबसे अहम हिस्सा बताया गया है।

संरचनावाद की कई और तरह से व्याख्या की जाती है। इस व्याख्या में यह सीखने की प्रक्रिया न रहकर या तो मात्र एक विधि बन जाता है या फिर बहुत व्यापक होकर ज्ञान की वैधता को जांचने का आधार बन जाता है।

यह ज्ञान की वैधता जांचने का अधिकार इसे कैसे मिल जाता है और कैसे यह छोटे–छोटे समूहों की स्वतंत्रता और स्वयंभूता के पक्ष में हथियार बनता है और आख़िर हद तक ले जाने पर हर व्यक्ति की वैचारिक आधारों को तय करने की स्वतंत्रता का पक्षधर हो जाता है कि बात नहीं करेंगे। यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और समाज व ज्ञान के रिश्ते, वर्चस्व की लड़ाई, मुख्यधारा के अन्य ज्ञान को कोने में धकेलना जैसे कई बड़े प्रश्नों के साथ जुड़ा है। इसमें मुख्यधारा को निर्धारित करने के तरीक़े, जांच की विकसित कसौटियों पर तो सवाल हैं ही परन्तु ऐसे भी सवाल हैं जो स्कूल में क्या पढ़ाया जाए उसको भी कटघरे में ला खड़ा करते हैं। वे स्कूल के उद्देश्य व उसमें की जा रही अपेक्षाओं पर भी प्रश्न उठाते हैं। इनके बारे में आगे देखते हैं।

संरचनावाद को अगर हम इस तरह से देखें कि बच्चा अपने ज्ञान का निर्माण स्वयं करता है तो ज़ाहिर है कि यह निर्माण वह अपने ढंग से करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि सीखने की प्रक्रिया में वह अपने रास्ते पर चलेगा और अपने ही पड़ावों पर रुकेगा। इसका अर्थ यह है कि

क्योंकि ये बीच के पड़ाव बहुत बार वयस्कों को ग़लत प्रतीत होते हैं, इसलिए बच्चे द्वारा व्यक्त समझ वह पड़ाव है। वह उत्तर बच्चे की दृष्टि से और बच्चे के लिए सही है। अतः बच्चे को अपना रास्ता तय करने दें।

कक्षा में क्या हो इसके बारे में भी अतिसंरचनावादी समझ रोचक है। वयस्कों को याने शिक्षकों को भी पाठ्यपुस्तक व अन्य सामग्रियों को तय करने का अधिकार नहीं है कि कक्षा में क्या होगा? इस विमर्श में बच्चे शामिल हों और वे ही तय करें। बाल केन्द्रित शब्दावली की भी दृष्टि इसी धारा में है। इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक को बच्चों से पूछना चाहिए कि कक्षा में उसे क्या करना चाहिए, उन्हें अपनी रुचि व अपनी आवश्यकतानुसार निर्धारित करना है कि वे उस दिन क्या करना चाहते हैं। स्कूल व शिक्षक चाहें तो कुछ विकल्प उनके सामने रख सकते हैं जिनमें से बच्चे चुनें कि उन्हें क्या करना है। यह बात अगर आपको अतिशयोक्तिपूर्ण या अजीब लग रही है तो भी मानना पड़ेगा कि संरचनावाद आधारित व बाल केन्द्रित शिक्षा विमर्शों में यह बड़े पुट में शामिल है। याने संरचनावाद की व्याख्या इन तरहों से करने पर एक तो यह मानता है कि बच्चे का समाज ही उसके ज्ञान का स्रोत व ज्ञान का आधार है, समाज ज्ञान की कसौटी भी है। इसका एक निहितार्थ यह हो सकता है कि बच्चे की शिक्षा समाज ही करेगा और उसके लिए एक खुले स्कूल की कल्पना की जाए जिसमें सभी वयस्क और शायद बच्चे भी शिक्षक हैं।

दूसरा यह मानता है कि हर बच्चे का अपना अलग ही तरीक़ा होता है और उन्हें निर्धारित करना चाहिए कि वे कैसे व क्या सीखना चाहते हैं। इन दोनों पक्षों को गहराई से समझना व इनके क्या निहितार्थ हैं यह जानना अच्छा है। वास्तविक परिस्थितियों में ये दोनों व अन्य मत इतने स्पष्ट नहीं दिखते। उनमें आज की परिस्थिति के कई अन्य विश्लेषण और इनके मिश्रित रूप ही मिलते हैं। कई सार्थक लगनेवाली व्याख्याओं को कुरेदने पर यह उभर सकता है कि वास्तव में मान्य ज्ञान का अर्थ बहुत ही धुंधला हो गया है।

संरचनावाद की ही दूसरे चरम की व्याख्या वह है जो इसे मात्र एक विधि मानती है। यह व्याख्या खेल–खेल में शिक्षण, आनन्ददायी शिक्षण जैसी शब्दावली से निकली है। इस व्याख्या में बच्चे के सम्मिलित होने के ढंग को गहराई से नहीं परखा जाता। याने आप बच्चों को पहले याद करवाएंगे लेकिन संरचनावादी विधि से, या फिर आप गणित के सवाल हल करने के शॉर्टकट अथवा व्याकरण के नियम आदि संरचनावादी तरीक़े से याद करेंगे। यह व्याख्या सीखने की सामग्री के स्वरूप को व सीखनेवाले की भूमिका को नहीं परखती। इस व्याख्या को ज़्यादा व्यवस्थित रूप में और अपेक्षाकृत ज़्यादा बेहतर ढंग से प्रदर्शित किया जा सकता है। उससे ऐसा स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि यह मात्र एक विधि के स्वरूप में विमर्श में शामिल हो रहा है। उदाहरणार्थ आप यह कह सकते हैं कि हम बच्चों से प्रयोग करवाएंगे। वह स्वयं फिर आज़माएंगे और प्रयोग करेंगे। हम बताएंगे कि प्रयोग में क्या अवलोकन करना है और उन्हें क्या मिलेगा? फिर हम उनको सरल शब्दों में समझाएंगे कि इसका कारण क्या है? इससे उन्हें अपने अवधारणा को स्पष्ट करने में मदद मिलेगी। इसी तरह से आपके पास गतिविधियों का एक व्यवस्थित सेट हो सकता है जिसे बच्चे को क्रम दर क्रम करते चलना है और यह माना जाता है कि यह सेट संरचनावादी सेट बनाएंगे और उन गतिविधियों को करके बच्चा सीख जाएगा। इसी तरह आप संरचनावादी पाठ्यपुस्तक बनाएंगे जिसमें ऐसे अभ्यास होंगे जिन्हें आप संरचनावादी पाठ कहेंगे। इसमें सीखे जानेवाले से अपेक्षाएं उतनी स्पष्ट रूप से नहीं कचोटतीं जैसे कि उदाहरण मैंने दिए हैं लेकिन छीलने पर इनकी बुनियाद में भी जिस ज्ञान के हासिल किए जाने की अपेक्षा है वह स्पष्टतः छिछला दिखने लगता है।

इन दोनों चरम मान्यताओं का रखने का कारण यही था कि हम यह सोच सकें कि आख़िर संरचनावाद जैसे शब्द की शिक्षा व शिक्षण में क्या जगह है? हमारा मानना है कि संरचनावाद इन्सान के सीखने की प्रक्रिया के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण कथन हमारे सामने रखता है। इसके निहितार्थ पाठ्यचर्चा में सभी पहलुओं

पर हैं। इसे मात्र एक विधि मानना बहुत बड़ी भूल है।

किन्तु यह ज्ञान की जांच की कसौटी और ज्ञान के स्वरूप को परिभाषित करने का आधार भी नहीं है। सामाजिक विमर्श व सामायिक मान्य धारणाएं ज्ञान को निर्धारित करने में एक पहलू ज़रूर हैं और ज्ञान के कई हिस्से ऐसे सामाजिक विमर्श से उभरते ज़रूर हैं, किन्तु यह सभी एक व्यापक विमर्श में शामिल हो जाते हैं और मान्य ज्ञान इस व्यापक विमर्श में मान्य जांच की कसौटियों से परखकर ही स्थापित होता है। इसमें 'हैजीमनी' (एकछत्रता) का प्रश्न आ सकता है और विचारों को रोके जाने की चिन्ता हो सकती है और व्यक्तिगत व छोटे समूहों की राय (जो बाद में सही भी सिद्ध हो सकती है) को दरकिनार किया जा सकता है, किन्तु ज्ञान को उस समय की परिस्थिति में कड़े से कड़े उपलब्ध तरीक़ों से जांचने के अलावा हमारे पास कोई चारा नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चा अगर हवा में पत्ते को उड़ते और लहराते देखकर कहता है कि पत्ते में उड़ने की शक्ति है तो हमें उसे इस समझ के साथ छोड़ देना चाहिए। वह समय आने पर स्वयं सीख लेगा या फिर यह कहे कि हो सकता है कि यह सही ही हो और बाद में हम इसे सिद्ध कर पाएं। हमें स्वतंत्र सोचने व विचारों को फैलने से रोकने का अधिकार नहीं है। अगर आपको ऐसा लग रहा है कि ऐसा तो कोई नहीं कहेगा तो वह शायद इस उदाहरण के लिए सही है। किन्तु जहां यह कहा जाता है वहां भी बात यही होती है, फ़र्क़ यही होता है कि उस संदर्भ में हमारी मान्य ज्ञान के बारे में समझ इतनी ठोस नहीं होती।

इस सबका अर्थ है कि संरचनावाद एक रास्ता तो दिखाता है किन्तु उसे परिभाषित नहीं करता। वह यह तो कहता है कि बच्चा अपने ज्ञान के ढांचे को अपने व्यक्तिगत व समूह में रहकर प्राप्त अनुभवों के आधार पर विकसित करता रहता है पर इस ज्ञान की सत्यता की कसौटी मात्र उसके, उसके साथियों के व उसके परिचितों के अनुभव नहीं हैं। यह मात्र एक विधि या विधियों का समूह नहीं है। संरचनावाद का शिक्षा में उपयोग, शिक्षा क्यों के प्रश्न पर भी प्रभाव डालता है। इसके उपयोग करनेवाले को यह मानना होगा कि शिक्षा का लक्ष्य ज्ञान का स्थानान्तरण नहीं वरन् हर इन्सान में वैचारिक स्वतंत्रता व सोच पाने की क्षमता का विकास है। इन्सान की विश्लेषण, तर्क व विवेचन करने की क्षमता उसकी समझ के साथ बढ़ती है और उसके लिए सीखनेवाले को प्रयास करना होगा। शैक्षणिक प्रक्रिया में ऐसे विमर्श की आवश्यकता है, जिसमें सीखनेवाले के विचारों को परखा जा सके व उन पर पुनर्विचार के लिए अनुभव उत्पन्न किए जा सकें। यह मांग करता है कि शिक्षक सीखनेवाले को समझे, उसकी पृष्ठभूमि को जाने, उसके अनुभवों व संस्कृति की इज़्ज़त करे व उससे विमर्श कर सके। उसे विषय की प्रकृति व अवधारणाओं का भी बेहतरतम ज्ञान हो जिससे कि वह बच्चों के अनुभवों व पृष्ठभूमि के लिए उपयुक्त अनुभव व सोचने–विचारने के अभ्यास व कार्य निर्मित कर सकेगा। यह आकलन की प्रक्रिया व उद्देश्य को भी बदलेगा और यह प्रयास करेगा कि हम यह जान सकें कि सीखनेवाला क्या जानता है और क्या सीखने के लिए तैयार है बनिस्बत यह पता करने के कि वह क्या–क्या नहीं जानता।

संरचनावाद पर हालांकि कक्षा में क्या हो, कैसे हो, ज्ञान क्या है, इन्सान के सामाजिक, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य क्या हों आदि के बारे में निर्धारण करने का बोझा नहीं डाला जा सकता फिर भी यह स्पष्ट है कि यह इन सबके बारे में इन्सान की बराबरी पर आधारित एक दृष्टि की मांग करता है और सीखनेवाले को शिक्षण प्रक्रिया में इज़्ज़त व स्थान दिए जाने की मांग करता है। संरचनावादी प्रक्रियाएं उन्हीं रास्तों व तरीक़ों को अपना सकती हैं जो प्रजातन्त्र से उभरी स्पष्ट 'एथिकल' बातों के हों।

जहां संरचनावादी कक्षा का कोई मॉडल नहीं हो सकता और वह हर परिस्थिति में अलग ही रूप में उभरेगा, फिर भी संरचनावाद कक्षा स्वरूप के बारे में कई महत्त्वपूर्ण बात कहता है और अच्छी कक्षा के कई संभव चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। संरचनावाद हमसे भी आगे जाकर शिक्षा और उसकी पूरी प्रक्रिया मय शिक्षण ढांचों, नियोजन व प्रशासन के लिए दिशा–निर्देश देता है। इनमें कुछ विशेषताएं होने से ही सीखनेवालों को सीखने के संरचनावादी अनुभव मिल सकेंगे।

हृदय कांत दीवान : विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के शैक्षिक सलाहकार हैं।

निर्माणवादी कक्षा में शिक्षक की भूमिका

दया दवे

अधिगम का सिद्धान्त 'निर्माणवाद' यद्यपि शिक्षा में नवीन संप्रत्यय नहीं है तथापि इस समय विभिन्न स्रोतों से ज्ञानार्जन करनेवाले विद्यार्थियों को दक्ष और सक्षम बनाने में पूर्णरूपेण सहयोगी व प्रासंगिक है। यद्यपि वर्तमान समय में विश्व के अनेक विद्यालयों में उसे क्रियान्वित किया जा रहा है मगर निर्माणवादी सिद्धान्तों के अनुरूप कक्षा–कक्ष प्रबन्धन में अत्यधिक सतर्क रहने की आवश्यकता होती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण और ध्यान रखने योग्य कार्य यह है कि विभिन्न विषयों को हस्तान्तरित करनेवाली प्रचलित पाठ्यचर्या को स्वयं सम्पादित करनेवाली पाठ्यचर्या में परिवर्तित कैसे किया जाए? यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। ज्ञान के हस्तान्तरण की जगह ज्ञान का निर्माण करवाना इन दोनों बातों के बीच के अन्तर को स्वीकार करना, अपनी सोच को रूपान्तरित करना शिक्षकों के लिए सहज नहीं है। निर्माणवादी विचारक जॉन ड्युई, पियाजे, ब्रूनर तथा वाइगोत्स्की जैसे अनेक चिन्तकों ने निर्माणवादी अधिगम की ऐतिहासिक प्रक्रिया हमें उपलबध कराई है।

अधिगम के इस प्रवर्धित और परिवर्तित ऐतिहासिक क्रम में निर्माणवाद व्यवहारवाद पर आधारित शिक्षा को, संज्ञानात्मक विचारधारा पर आधारित शिक्षा की ओर ले जानेवाला एक अद्‌भुत 'निदर्शनात्मक स्थानान्तरण' है। इसमें अभी तक बने हुए अधिगम के केन्द्र बिन्दु अध्यापक के स्थान पर विद्यार्थी को कैसे लाया जाए, इस पर दीर्घकालिक श्रम किया गया है। हम तुरन्त आमूलचूल परिवर्तन नहीं कर सकते किन्तु अधिगम की नवीन सोच एवं नवीन सिद्धान्तों की समझ विकसित करने का प्रयास तो कर सकते हैं।

अपनी संकीर्णता को दूर करने तथा निर्माणवादी कक्षा–कक्ष के विविध पक्षों को समझने के लिए अध्यापकों व प्रबन्धकों में स्वतः शोध की प्रवृत्ति विकसित करनी होगी। इस लेख में अपने प्रत्यक्ष अनुभवों से पाठकों को परिचित करवाने की कोशिश की गई है जिसमें निर्माणवादी शिक्षण–अधिगम के अंश सम्मिलित हैं। उन्हें कक्षा कक्ष के तीन उदाहरणों से व्यक्त किया गया है। कक्षा के तीन दृश्य इस प्रकार हैं –

दृश्य एक :

तेज़ गति से आती हुई प्रधानाध्यापिका ने कक्षा में प्रवेश किया और सबकी और गुस्से से देखते हुए बोली यह क्या हो रहा है? सब बच्चे ठीक से अपनी जगह पर क्यों नहीं बैठे हैं? इतनी आवाज़ क्यों हो रही है? उस वक़्त दरअसल उस कक्षा में बी.एड. का एक विद्यार्थी (प्रशिक्षणार्थी) अपना शिक्षण अभ्यास कर रहा था। उसने कक्षा के सभी बच्चों को चार समूहों में विभक्त करके बिठा रखा था। प्रत्येक समूह को प्रकरण सम्बन्धी अलग–अलग बिन्दुओं से सम्बन्धित विषय सामग्री दे रखी थी। उस सामग्री का क्या करना हैं, इस सम्बन्ध में प्रत्येक समूह के लिए लपेट फलक पर निर्देश प्रदर्शित किए गए थे। बच्चे अपने–अपने समूह में परस्पर वार्तालाप (संवाद) कर रहे थे और तथ्यों का वर्गीकरण कर रहे थे। हर समूह में एक छात्र एक काग़ज़ पर कुछ लिख रहा था। बच्चे कभी मुड़कर निर्देशों को पढ़ते तो कभी आपस में विचार–विमर्श करते। कभी विवाद करते और फिर सामान्य होते हुए नज़र आ रहे थे। हर समूह अपने–अपने कार्य में तल्लीन था। किसी को भी इस बात की परवाह नहीं थी कि अन्य समूह में क्या हो रहा है तथा कक्षा में कौन आया है? हां, उनके परस्पर संवाद करने से एक अलग ही ध्वनि हो रही थी जो

कक्षा के दरवाज़े तक पहुंच रही थी, जिसे हम शोर–गुल नहीं कह सकते। अचानक प्रधानाध्यापिका की कड़क आवाज़ ने बच्चों का ध्यान विचलित किया और वे असहज से होकर सहम गए। तभी बच्चों के सामने प्रधानाध्यापिका द्वारा गुस्से में कही गई बात सुनकर वहां उपस्थित बी. एड. छात्राध्यापक पहले तो एकदम घबरा गया फिर हिम्मत करके धीरे से बोला मैडम। हमारा लेसन निर्माणवादी विधि पर बना हुआ है और हमें इसी तरह से पढ़ाने के लिए कहा गया है। यह सुनते ही प्रधानाध्यापिका झुंझलाकर बोली। नहीं, नहीं। यह नहीं चलेगा। ये कैसा निर्माणवाद है? सारे बच्चे चिल्ला रहे हैं और कुछ भी कर रहे हैं। सारा अनुशासन ख़राब हो रहा है और आप खड़े–खड़े देख रहे हैं आप तो इनकी आदत बिगाड़कर चले जाओगे और वापस इन्हें ठीक करने में कितना समय लगेगा आपको इस बात का ज़रा भी अन्दाज़ा है? हमने आप लोगों को पढ़ाने की परमिशन दी है और आप निर्माणवाद के नाम पर कुछ भी कर रहे हैं। इन्हें चुप करो और पढ़ाओ। अगर पढ़ा हुआ पाठ है तो रिवीज़न करवाओ। छात्राध्यापक उन्हें कुछ समझाने की चेष्टा कर ही रहा था कि प्रधानाध्यापिका ग़ुस्सा करती हुई कक्षा से बाहर निकल गई।

दृश्य दो :

प्रधानाध्यापिका जब सीढ़ियां चढ़कर ऊपरवाली विंग में अन्य कक्षा में पहुंची तो वहां भी उन्हें कक्षा में कुछ ऐसा ही दृश्य देखने को मिला जो पिछली कक्षा में दिखाई दिया था। उन्होंने कक्षा में प्रवेश किया किन्तु उन्हें वहां कोई अध्यापक दिखाई

नहीं दिया। सभी विद्यार्थी तीन–तीन के समूह में बैठे हुए थे तथा उनके पास न्यूज़पेपर्स व मैग़्ज़ीन की कटिंग तथा कुछ चित्रादि रखे हुए थे। विद्यार्थी उन पर चर्चा कर रहे थे। वे कभी एक–दूसरे के विचार से सहमत हो रहे थे तो कभी असहमति जता रहे थे। कभी सोचते हुए नज़र आ रहे थे तो कभी प्रश्न पूछ रहे थे। बीच–बीच में उन्हें हंसी भी आ रही थी और आनन्द भी। उनके परस्पर संवादों से ध्वनि अवश्य उत्पन्न हो रही थी। यह सब देखकर प्रधानाध्यापिक और भी गुस्सा होती हुई तेज़ आवाज़ में बोली – अभी किसका पीरियड है? आप लोग चुपचाप नहीं बैठ सकते? यह सुनते ही उस कक्षा में मौजूद बी.एड. का एक छात्राध्यापक जो किसी समूह के कोरम की पूर्ति करने के लिए प्रतिभागी बना हुआ था, एकदम खड़ा हो गया और बोला – मैडम, मेरा पीरियड है। अरे! आपका पीरियड है तो आप वहां बैठे क्या कर रहे हैं? यहां (श्यामपट्ट के समक्ष इशारा करते हुए) आकर पढ़ाते क्यों नहीं? ऐसा प्रधानाध्यापिका चिढ़कर बोली। छात्राध्यापक थोड़ा रूढ़ स्वभाव का था, उसने पलटकर कहा – पढ़ा ही तो रहा हूं। प्रधानाध्यापिका थोड़ा नाराज़ हुई और बोली – इसे पढ़ाना कहते हैं? आप बच्चो के साथ बैठे बतिया रहे थे और सब से झूठ बोल रहे हैं? छात्राध्यापक ने तत्काल बच्चों से पूछा – अच्छा बच्चो। बताओं कि अपन (हम) क्या कर रहे थे? बच्चे बोले– सर, हम इन चित्रों और पेपर कटिंग आदि को देखकर सोच रहे थे तथा इनसे कितनी बातें कही जा सकती हैं, वह आपस में बता रहे थे। क्योंकि सर ने कहा था कि जो समूह जितनी अधिक जानकारी देगा वह प्रथम स्थान प्राप्त करेगा।

प्रधानाध्यापिका को विद्यार्थियों की बात अच्छी नहीं लगी। वह छात्राध्यापक को झिड़कते हुए बोली – क्या सब काम आप बच्चों से ही करवाएंगे? आप क्या करेंगे? यह कैसी ट्रेनिंग है? आप तो कक्षा में कुछ करते हुए नज़र नहीं आ रहे हैं? आपके सुपरवाइज़र कहां है? उनसे बात करनी पड़ेगी। इस तरह धमकी भरे शब्द बोलती हुई वह सुपरवाइज़र को तलाशती हुई कक्षा से बाहर निकलने के लिए बढ़ी ही थी कि अगले कालांश की घण्टी बज गई। कक्षा में बच्चों का शोर आरम्भ हो गया किन्तु कुछ बच्चों की बातें उन्हें सुनाई दे रही थी जिनमें वे छात्राध्यापक से कह रहे थे – सर कल आप क्या पढ़ाएंगे? कल भी हमारे लिए ये सारी चीज़े लाएंगे? कोई कह रहा था सर में भी ला सकता हूं। अब आवाज़ धीमी होती हुई बन्द हो गई थी और प्रधानाध्यापिका चार–पांच कक्षों के आगे तक जा चुकी थी। अगले कालांश के छात्राध्यापक कक्षा में प्रवेश कर चुके थे।

दृश्य तीन :

प्रधानाध्यापिका चूंकि सुपरवाइज़र को ढूंढ़ रही थी, अतः अगली कक्षाओं तक बढ़ती जा रही थी। एक कक्षा की खिड़की के पास रुककर कक्षा में देखने लगी। उसने देखा कि एक छात्राध्यापिका को बच्चों ने घेर रखा है और वे किसी कार्य को स्वयं करेंगे। उसी कक्षा में पहले से पीछे बैठा हुआ सुपरवाइज़र प्रधानाध्यापिका को खिड़की में से दिखाई नहीं दे रहा था। किन्तु छात्राध्यापिका तथा बच्चों को मालूम था। छात्राध्यापिका ने एक विद्यार्थी को अपने समक्ष बुलाया और दोनों ने मिलकर एक संवाद पढ़कर बच्चों को सुनाया। फिर सभी छात्रों को दो–दो के समूह में बांटकर अलग–अलग संस्थिति के संवाद लिखने हेतु कहा। बच्चे अपने पसन्द के प्रकरण पर लिखने के लिए थोड़ा शोर करने लगे प्रधानाध्यापिका कक्षा का यह दृश्य देखकर आपे से बाहर हो रही थी किन्तु पता नहीं क्या सोचकर धीरज रखती हुई वहीं खड़े होकर कक्षा में होनेवाली गतिविधि को लगातार चुपचाप देखती रही। दस मिनट के अन्दर विद्यार्थियों ने अपने संवाद लिखे। इस प्रक्रिया में छात्राध्यापिका निरन्तर सबका सहयोग कर रही थी। कक्षा में हल्की ध्वनि बराबर हो रही थी। प्रत्येक समूह को अपने संवाद प्रस्तुतीकरण के अवसर दिए गए जिसमें प्रत्येक को एक–एक मिनट लगा। छात्रों के चेहरों पर अपने संवाद प्रस्तुत करते हुए विजय के भाव देखे जा सकते थे। यह सब देखते–देखते प्रधानाध्यापिका का रुख़ कुछ नरम होता हुआ सा नज़र आने लगा। इस तरह बच्चों को अपने सहपाठियों से मिलकर कार्य करते हुए, शिक्षक के साथ सहज रहते हुए, अगले दिन के पाठ को पढ़ने के लिए जिज्ञासु होते हुए तथा उत्साहित देखकर उन्हें अच्छा लगने लगा। मन में जो सन्तोष और आनन्द का भाव उठ रहा था वह उनके चेहरे

पर दिखाई देने लगा। ऐसा लग रहा था कि कक्षा–कक्ष की यह अध्यापन शैली उन्हें प्रभावित कर रही थी। इतने में कालांश समाप्त हो गया। उस कक्षा से बाहर निकलते हुए सुपरवाइज़र को आश्चर्य से देखती हुई प्रधानाध्यापिका बोली – अरे! आप अन्दर ही थे? मैं आप को ही ढूंढ़ रही थी। सुपरवाइज़र ने कहा – कहिए क्या काम है? प्रधानाध्यापिका का ग़ुस्सा काफूर हो चुका था फिर भी उसने कहा कि – आपके विद्यार्थी जब कक्षा में पढ़ाते हैं तो अनुशासन कुछ ठीक नहीं रहता हैं। अध्यापक की सक्रियता नज़र नहीं आती। विद्यार्थी ही विषयवस्तु को समझने, जानने और बताने का उपक्रम कर रहे थे। एक दृष्टि से ऐसा शिक्षण अच्छा है किन्तु अध्यापक के शिक्षण कौशल की पहचान कैसे की जा सकती है? सुपरवाइज़र ने उन्हें बीच में रोकते हुए कहा कि – यदि बच्चों को स्वप्रेरित होकर सीखने के लिए अध्यापक तैयार कर लें तो यही तो अध्यापक का कौशल है। काम करना आसान है किन्तु करवाना मुश्किल होता है। हम शिक्षक बच्चों पर ज्ञान थोपते आए हैं। हम जैसा चाहते हैं वैसा ही उन्हें बनाते हैं। उन्हें स्वयं की समझ, ज्ञान, कौशल व अभिवृत्ति आदि के निर्माण का अवसर ही नहीं देते। बच्चों को केवल आदेश देने से काम नहीं चलता अपितु उनके सीखने की प्रक्रिया में अध्यापक को सहभागी बनना पड़ता है। वह उनके बीच रहकर ही जान सकता है कि बच्चे समूह में कार्य करते हुए किन तरीक़ों से सीखते हैं? उन तरीक़ों की पहचान करना व उन्हें शिक्षण में अपनाना ही निर्माणवादी शिक्षक का कार्य है। यही सामाजिक निर्माणवाद है।

सामाजिक निर्माणवाद

सामाजिक निर्माणवाद में विद्यार्थी समूह में विभिन्न गतिविधियों में सक्रिय रहते हुए अवलोकन, चिन्तन करते हैं, मौलिक विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। वैचारिक संघर्ष करते हैं, प्रश्न करते हैं, प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, चर्चा करते हैं तथ्यों की खोज करते हैं, दूसरों की बात समझने का प्रयास करते हैं, निर्णय लेते हैं, दूसरों पर अपना प्रभाव जमाते हैं, एक दूसरे की मदद करते हैं, तर्क करते हैं। और इस प्रकार अनायास ही सामाजिक सन्दर्भों में अपने दायित्वों के निर्वाह में दक्ष होते जाते हैं।

हमारी शिक्षण व्यवस्था में एक ओर अच्छे पाठ्यक्रम का अभाव है तो दूसरी ओर पुराने ढर्रेवाली शिक्षण पद्धतियां हैं जो ऊबाऊ हैं और झुंझलाहट पैदा करती हैं। वर्षों से प्रयुक्त अप्रासंगिक पद्धतियां और हमारे शिक्षकों की अपेक्षाएं कक्षा में नीरस वातावरण ही उत्पन्न नहीं करती अपितु कई सवाल भी खड़े करती है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

प्रचलित शिक्षा पर कुछ सवाल

प्रचलित विद्यालयों में कक्षा–कक्ष की स्थिति का जब अवलोकन करते हैं तो कई सवाल पैदा होते हैं। जैसे – क्या कक्षा में विद्यार्थियों का चुपचाप बैठे रहना अनुशासन है? क्या उनसे एक समान कार्य करवाकर शिक्षण सम्पादन करना ही सिखाना है? क्या कक्षा में बच्चों द्वारा संवाद व प्रश्न न करके अपनी जिज्ञासाओं को कुण्ठित बनाए रखना अनुशासन है? क्या कक्षा में बच्चों का कृत्रिम व्यवहार ही व्यावहारिक कौशल है? क्या बच्चों द्वारा अध्यापक के प्रश्नों के उत्तर न दे पाना अपराध है? क्या अध्यापक जो पढ़ाता है वही जानना ज्ञान है? क्या अध्यापक जिस तरह से सिखाता है, उसी तरह से सीखना कौशल है।

ऐसे कई सवाल सिखाने व सीखने की प्रक्रिया पर उठ सकते हैं। अध्यापक का दमनकारी व्यवहार विद्यार्थियों की मौलिकता पर कुठाराघात करता है। यदि हम बच्चों को वयस्क न मानकर बच्चा मानकर पढ़ाएं तो उनका सहज व स्वाभाविक विकास करना आसान हो सकता है। सीखने में उनकी सहज गतिविधियों को ही माध्यम बनाकर पढ़ाना निर्माणवादी शिक्षण है।

दया दवे., विद्या भवन गोविन्दराम सेकसरिया शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, उदयपुर में पढ़ाती हैं।

शिक्षा में निर्माणवाद

अनिल कुमार जैन

"इस पर्चे में यह समझने का प्रयास किया गया है कि बुनियादी शिक्षा की आधारभूत मान्यताएं किस प्रकार निर्माणवाद अधिगम प्रक्रियाओं के निकट है। क्या गांधी ऐसा ही सोचते थे जैसा जॉन डीवी या रवीन्द्रनाथ टैगोर? क्या निर्माणवादी दार्शनिकों की अधिगम के बारे में धारणा काम और शिक्षा की महत्ता को स्वीकार करती है? यदि हां तो क्यों न हम इसे निर्माणवादी बुनियादी शिक्षा कहें।"

निर्मितवाद की समझ बनाने से पहले हमें आज के सन्दर्भ में बुनियादी शिक्षा के महत्त्व पर चर्चा करने की आवश्यकता है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि कहीं कोई ऐसा व्यवसाय नहीं बचा है जहां व्यक्ति केवल अपने ज्ञान की वज़ह से स्थान बना पाया हो। आज के सन्दर्भ में 'हुनर' का होना बहुत ज़रूरी है अर्थात् व्यावहारिक रूप से वह किस प्रकार अपने कौशल को दुनिया के सामने प्रस्तुत कर सके और ऐसा तभी हो सकता है जब उसने अपने विद्यालयी जीवन में उन सभी कौशलों को ख़ुद करके अर्जित किया हो। स्वयं काम करके सीखने की प्रक्रिया से गुज़रा हो। इस प्रक्रिया से गुज़रने में उसे समय ज़रूर लगता है लेकिन उसकी स्थायी समझ विकसित होगी जो उसके भविष्य का निर्माण करेगी। यह सब विचार गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा के सन्दर्भ में 1937 में ही कर दिये थे लेकिन इन्हें हम आज भी चरितार्थ पाते हैं।

गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा का जीवन से निकट सम्बन्ध होना चाहिए। उन्होंने शिक्षा को बुनियादी इसलिए माना कि इसका उद्देश्य रहन–सहन और जीवन की कला सिखाना है। गांधीजी का मत था कि शिक्षा से विद्यार्थी को मात्र किताबी ज्ञान ही प्राप्त न हो वरन् विद्या अध्ययन के साथ–साथ समूह में रहकर एक ऐसा हुनर सीखे जिससे उसमें हाथ से काम करने की आदत का विकास हो और वह विद्याध्ययन के समय सीखे हुए हुनर को स्वरोज़गार के रूप में अपनाकर समाज तथा राष्ट्र को आर्थिक सम्बल प्रदान करे न कि पराश्रित रहकर नौकरी की तलाश करें।

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य हाथ और ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा से प्रारम्भ कर मस्तिष्क तथा हृदय का उन्नयन करना था।

बुनियादी शिक्षा दर्शन की मुख्य बातें :–

1. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।
2. समस्त शिक्षा उद्यम केन्द्रित हो।

   यहां उद्यम का अर्थ हाथ से कुछ काम करना परिश्रम करना या चेष्टा करना।
3. शिक्षा ऐसी हो जो बालक को स्वावलम्बी बनाए।

   उद्यम या हाथ से काम करने, स्वयं कार्य करने से व्यक्ति के जीवन में स्वावलम्बन आता है। स्वावलम्बन के व्यापक अर्थ में अपने छोटे–मोटे कामों और ज़रूरतों के स्वप्रबन्ध को स्वावलम्बन के दायरे में ले सकते हैं।
4. बुनियादी शिक्षा प्रणाली से शाला में बच्चे और शिक्षक मिलकर शाला की सारी व्यवस्थाओं को अंजाम देते हैं।
5. बुनियादी शिक्षा में बालक समूह में रहकर काम करता है। समूह में काम करने से सहकार व सहयोग की भावना का बीजारोपण होता है।
6. इस शिक्षा से व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है।

मेहनत ⟶	सृजन करने से	चित्त को शांति
उत्पादन		
वास्तविकता		
सत्य		
परिश्रम से	नैतिकता आती है	
	अहिंसा के गुण पैदा होते हैं	

बुनियादी शिक्षा के इन सभी मुद्दों को निर्मितवाद में ढूंढना चाहें तो निर्माणवादी शिक्षा के स्वरूप को भी समझना आवश्यक है।

निर्माणवादी शिक्षा का स्वरूप

- निर्मितवाद सीखने का एक दर्शन है यह जानने और समझने का दर्शन है। यह शिक्षक के लिए भी मार्गदर्शन करता है। निर्मितवाद की मूल भावना है कि बालक को स्वयं एवं विश्व की समझ अनुभव के आधार पर होती है। इस प्रक्रिया में नवीन अनुभव और पूर्व अनुभव मिलकर नवीन अर्थ देते हैं। निर्मितवाद वह सक्रिय प्रविधि है जिसमें छात्र नवीन विचारों तथा नवीन संप्रत्ययों का निर्माण करते हैं।
- निर्मितवाद के अनुसार व्यक्ति और वातावरण में अन्तःक्रिया द्वारा पूर्व ज्ञान के आधार पर ज्ञान का सृजन होता है।

निर्माणवाद की आधारभूत धारणाएं

1. सीखना संवेदी अंगों से होता है जैसे– छूने से, आभास करने से, देखने से, अवलोकन से, सुनने से अतः स्पष्ट है निष्क्रियता से ज्ञान का निर्माण नहीं किया जा सकता है।
2. निर्माणवादी शिक्षा के स्वरूप में सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण को भी महत्त्व दिया गया है।

जॉन डीवी (1859–1952) को निर्माणवाद शिक्षाशास्त्र का पिता कहा गया है। उन्होंने शिक्षा को कार्य पर निर्भर बताया है और कहा है कि ज्ञान एवं विचार उन परिस्थितियों से प्रकट होते हैं जिनसे छात्र अनुभवों से अनुभव प्राप्त करते हैं। जॉन डीवी ने ''क्रिया करके सीखना'', पूर्व ज्ञान को नवीन अनुभवों से जोड़कर अर्थ निकालना तथा सीखने में सामाजिक संदर्भ के महत्त्व को स्वीकारा है।

इसी तरह जीन पियाजे का भी मत है कि मानव एक तार्किक संरचना के निर्माण के बाद दूसरी संरचना करते हैं और खोज विधि अर्थ ढूंढने की सामान्य विधि है उनका मत है कि छात्र द्वारा ज्ञान का आत्मीकरण किया जाता है।

- रूस के मनोवैज्ञानिक वाइगोटस्की ने निर्माणवाद में अधिगम के सामाजिक पक्ष पर बल दिया है। उसने अधिगम के समीपस्थ क्षेत्र को परिभाषित किया है। उनके अनुसार छात्र अपनी तत्कालीन समस्याओं का हल उसके वास्तविक विकासात्मक स्तर के आगे भी किसी के मार्गदर्शन में कर सकता है। इस प्रकार वाइगोटस्की द्वारा सामाजिक निर्माणवाद को प्रोत्साहित किया गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि

''निर्माणवाद शिक्षाशास्त्र निर्माण का शिक्षाशास्त्र है इसका प्रारम्भ बालक की आवश्यकताओं से होता है तथा उसे स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए और सृजनात्मकता के लिए उचित वातावरण उपलब्ध कराया जाता है।'' अतः हम कह सकते हैं कि निर्माणवाद कक्षा कक्ष की प्रकृति बहुत कुछ बुनियादी शिक्षा की प्रकृति से मिलती जुलती होनी चाहिए।

निर्माणवादी कक्षा कक्ष की विशिष्टताएं

1. निर्माणवादी कक्षा छात्र केन्द्रित, क्रिया आधारित एवं अन्तःक्रियात्मक होती है।
2. कक्षा में प्रजातांत्रिक वातावरण होता है और छात्र स्वायत्त होते हैं।
3. छात्र स्वयं ज्ञान का निर्माण करते हैं, सृजन करते हैं।
4. छात्रों को सार्थक अनुभव, सक्रिय सहभागिता तथा रचनात्मक सामर्थ्य को पोषित और संवर्द्धित करने

का अवसर प्राप्त होता है।

5. निर्माणवादी कक्षा में छात्र समस्या समाधान, समूह के सहयोग के दैहिक क्रियाओं और मानसिक क्रियाओं दोनों से करते हैं। शिक्षक एक मार्गदर्शक और ज्ञान निर्माण का सरलीकरण करनेवाला होता है।

6. निर्माणवादी कक्षा अन्तःक्रिया आधारित, सामाजिक वातावरण को बल देती है।

7. निर्माणवादी कक्षा में ज्ञान का निर्माण, एक गतिशील, सदैव परिवर्तनशील, अनुभव आधारित एवं अंतरिम माना गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि बुनियादी शिक्षा और निर्माणवादी शिक्षा के स्वरूप में सीखने– सिखाने की प्रक्रिया की दृष्टि से दोनों में बहुत समानता है। अतः शिक्षण प्रविधि की दृष्टि से और शिक्षक की दृष्टि से दोनों का तुलनात्मक स्वरूप भी देखा जाना चाहिए।

इस प्रकार हम पाते हैं कि दोनों प्रकार की शिक्षा के स्वरूप में बहुत समानता है। अतः इसे मिलाकर हम निर्माणवादी बुनियादी शिक्षा कह सकते हैं जिसके लिए हम बालक, अध्यापक से, समाज से, विद्यालय से कुछ अपेक्षाएं करते हैं।

1. सीखने हेतु बालक की सक्रिय सहभागिता आवश्यक है।

शिक्षण पद्धति

1. अनुभव द्वारा सीखना	1. सहयोगी अधिगम
2. क्रिया द्वारा सीखना	2. संवाद, प्रश्न पूछना
3. सीखने की प्रक्रिया में समन्वय	3. छात्र को क्रिया, प्रयोग प्रश्नोत्तर आदि में व्यस्त करना।
4. शारीरिक अंगों का विवेकपूर्ण प्रयोग	4. समूह परिचर्चा
5. मनसा, वाचा कर्मणा में सम्बन्ध स्थापित कर सीखना	5. संज्ञानात्मक संघर्ष को प्रोत्साहित करना।

शिक्षक की भूमिका

1. मैत्रीपूर्ण ढंग से बालक के मनोभावों को समझकर मार्गदर्शन करना।	1. शिक्षक ज्ञान के निर्माण का सरलीकरण करनेवाला एक मार्गदर्शक।
2. बालक की जिज्ञासा को प्रोत्साहित करनेवाला।	2. अभिप्रेरक की भूमिका
3. बालक के विचारों तथा परेशानियों के प्रति संवेदनशील	3. स्वतंत्रतापूर्वक चिंतन को प्रोत्साहित करनेवाला।

2. सीखने हेतु अध्यापक एक सुविधा प्रदाता की भूमिका में रहे।
3. सीखने हेतु उपयुक्त सामाजिक वातावरण निर्माण आवश्यक है।
4. सीखने से किसी प्रकार का उत्पादन आवश्यक है। यह मूर्त या अमूर्त किसी भी रूप का हो सकता है।
5. इस उत्पादन में सीखनेवाला श्रम से आवश्यक जुड़ा हो चाहे वह शारीरिक श्रम हो या दिमाग़ी श्रम। क्योंकि ऐसे उत्पादन में उसकी स्वयं की भागीदारी होती है जिसमें उसे आत्मिक संतुष्टि, शांति मिलती है और जब वह उस उत्पादन से समाज में कोई दिशा प्राप्त कर लेता है तो उसमें स्वावलम्बन की भावना जाग्रत होती है। यदि ऐसा हो जाता है तो गांधीजी की दृष्टि से यही सही मायने में बुनियादी शिक्षा है। अतः शिक्षा के इस स्वरूप को निर्माणवादी बुनियादी शिक्षा कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अनिल कुमार जैन, विद्या भवन गोविन्दराम सेकसरिया शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, उदयपुर में पढ़ाते हैं।

कैसे पढ़ाएं बच्चों को?

ए.के. पालीवाल

बच्चों को कैसे शिक्षित किया जाए? उन्हें क्या पढ़ाया जाए? उन्हें कैसे पढ़ाया जाए? उन्हें कौन पढ़ाए? बच्चों को किस संदर्भ में शिक्षित किया जाए? क्या शिक्षण की जगह सीखने पर बल देना ज़्यादा ज़रूरी है? इन प्रश्नों पर किसी न किसी रूप में सदियों से विचार–विमर्श हुआ है। परिवार को प्रथम पाठशाला कहा गया और माना गया कि बहुत सारा ज्ञान बालक विद्यालय जाने से पूर्व ही ग्रहण कर लेता है। वह अपने आसपास के रिश्तों के संसार में और पर्यावरण में बहुत कुछ अवलोकन करता है। उन्हें समझने की कोशिश करता है। अपने को सक्रिय रखते हुए यह भी सोचता भी है और चिन्तन भी करता है। आपने भी कभी अपने परिवार में बच्चों को कुछ ऐसे प्रश्न करते देखा होगा। बानगी के तौर पर मां और बालक के बीच के जैसे पेड़ को देखकर बालक प्रायः पूछते है–ये संवाद

बालक : ये क्या है?
मां : पेड़।
बालक : पेड़ क्या होता है?
मां : पेड़? पेड़ बड़ा होता है?
बालक : बड़ा क्या होता है?
मां : जो छोटा नहीं होता।
बालक : छोटा क्या नहीं होता?
मां : जो बड़ा नहीं होता।
बालक : छोटा और बड़ा क्या होता है?
मां : बॉल छोटी होती है और पेड़ बड़ा।
बालक : अच्छा। तो उस बड़े पेड़ के पासवाला पेड़ कैसा है?
मां : वह छोटा है।
बालक : क्या पेड़ भी छोटा हो सकता है?
मां : हां, बेटा।
बालक : वह क्या है?
मां : वह फूल है।
बालक : ये ऐसा क्यों दिखता है।
मां : इसका रंग लाल है?
बालक : लाल क्या होता है?
मां : ये रंग होता है?
बालक : रंग क्या होता है?
मां : रंग? जैसे दूध सफेद होता है। फूल लाल होता है।
बालक : हमारे गमले के फूल का रंग कैसा है?
मां : वह तो पीला है।
बालक : पर आप तो कह रही है कि ये तो लाल रंग का होता है।
मां : फूल कई रंग के होते हैं?
बालक : फूल कई रंग के क्यों होते हैं?
मां : पता नहीं। अच्छा ऐसा करो कि तुम दूध पी लो और इस बॉल से खेलो। मैं तुम्हारे लिए खाना बनाती हूं। शैतानी मत करना।
बालक : शैतानी क्या होती है?
मां : चुप कर। बाद में बात करेंगे।

मां और बालक के ये संवाद इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि–
बालक प्रश्न करके जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिए प्रश्न करते हैं। प्रश्नों के उत्तरों पर नए–नए प्रश्न करते हैं। बच्चे अपने नज़दीकी रिश्तेदार, माता–पिता, भाई–बहन इत्यादि से संवाद करते हैं, तर्क करते हैं, बहस भी करते हैं। वे अपनी सहमति एवं असहमति भी व्यक्त करते हैं। ऐसे संवाद ही उनके सीखने की एक सार्थक प्रक्रिया बनती है। कई बार बच्चों के प्रश्नों के उत्तर देना अभिभावकों के लिए आसान नहीं होता। वे प्रायः इसे अहम पर चोट मानकर बच्चों को डांटकर चुप कर देते हैं। विद्यालय व्यवस्था प्रायः बच्चों के प्रश्न नहीं करने देती। उनके प्रश्नों को जवाब नहीं देती। उनकी खोज प्रवृति को तहस–नहस कर देती है। उनकी

नैसर्गिक अधिगम क्षमता को निष्क्रिय करने में कोई कसर नहीं छोड़ती। उन्हें स्वतन्त्र रूप से सोचने नहीं देती। उनके चिन्तन कौशल को विकसित नहीं करती। उन्हें मानसिकता ग़ुलामी में झोंक देती है। उनकी आज़ादी एवं ख़ुशी को उनसे छीन लेती है। उन्हें आदेश पालन करनेवाली सेना में परिवर्तित कर देती है। रटने के लिए मज़बूर कर रही है। इस व्यवस्था में उन्हें सत्रान्त परीक्षा के भय से ग्रस्त रखा जाता है। उन्हें एक ही विधि (जो प्रायः व्याख्यान होती है एवं अरुचिकर भी) से पढ़ने पर मज़बूर किया जाता है। उन्हें चिन्तनशील, सृजनशील प्राणी नहीं मानकर तोता माना जाता है जो रटकर मशीनीकृत वाक्य उगलते हैं। उन्हें इस काबिल नहीं माना जाता है कि वे अपने पूर्वज्ञान के आधार पर स्वयं ज्ञान का निर्माण कर सकते हैं। उन्हें आपस में बातचीत विचार–विमर्श, तर्क–वितर्क, बहस, समूह–कार्य, प्रायोजना कार्य इत्यादि नहीं करने दिया जाता। पढ़ने–पढ़ाने की प्रक्रिया में उनके विचारों की कोई कद्र नहीं होती, उनकी संवेदनाओं और भावनाओं की विधिवत हत्या की जाती है। उन्हें एक अतार्किक, हिंसक परीक्षा प्रतियोगिता के पागलपन में झोंका जाता है। शोध के लिए निरुत्साहित किया जाता है। विद्यालयों के बाहर फैले असीमित ज्ञान से परहेज रखने को मज़बूर किया जाता है। उन्हें बताया जाता है कि शिक्षक ही ज्ञान का एक मात्र ख़ज़ाना है, उसके ज्ञान को चुनौती नहीं दी जाए। उन्हें इंसान नहीं, रोबोट बनने पर मज़बूर किया जाता है। उन्हें अनजाने में भावी हिंसा के लिए तैयार किया जाता है। क्या जहां गला काट प्रतियोगिता होगी वहां क्या हिंसा नहीं होगी?

आधुनिक विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के इस आतंकवाद के विरुद्ध एक नवीन विचारधारा उभर रही है जो यह मानती है कि– बालकों के लिए सीखना एक नैसर्गिक क्षमता का हिस्सा है। बालक अपने आस–पास के पर्यावरण, संदर्भों एवं रिश्तों के संसार से सीखते हैं। बालक वस्तुतः खोजी प्रवृति के होते है। वे जिज्ञासा को शांत करने के लिए अवलोकन करते हैं। वे प्रश्न करते है। वे संवाद स्थापित करते हैं। बालक अपने सामाजिक परिवेश में सामाजीकरण का एक हिस्सा बनते हैं। वे समानता एवं स्वतंत्रता में फलते–फूलते हैं। इसी माहौल में वे चिन्तनशील एवं सृजनशील बनते हैं। प्रत्येक बालक की अपनी विशिष्ट अधिगम क्षमता होती है। शिक्षण तो जानकारी थोपता है जबकि अधिगम जानकारी और ज्ञान का निर्माण करता है। शिक्षण से ज़्यादा ज़रूरी है सीखने की अर्थपूर्ण परिस्थितियां उत्पन्न करना जिससे बालक सहजपूर्ण, तनावरहित होकर संसार को खोज सके, उसे जान सके, उसके साथ अन्तःक्रिया कर सकें, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अर्थपूर्ण विकास कर सके। पाठ्यपुस्तकें ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत नहीं है। सम्पूर्ण पर्यावरण, परिवेश, संदर्भ ज्ञान का ख़ज़ाना है। अध्यापक का कार्य अधिगम की सार्थक परिस्थितियां विकसित करना एवं उपलब्ध करना है। अध्यापक स्वयं एक अधिगमकर्ता एवं सहयोगी के रूप में कार्य करें। अध्यापक एक 'फैसिलिटेटर' (सुविधा प्रदाता?) के रूप में अपनी भूमिका निभाए। ज्ञान, कौशल एवं अभिवृति अलग–अलग नहीं है। वे वस्तुतः एकीकृत हैं। विषयों का विभाजन भी उचित नहीं है। सारे विषय एक दूसरे से जुड़े हैं। उन्हें सापेक्ष समझा जाए। बच्चे की मातृभाषा ज्ञान निर्माण की आधारशीला होती है। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के केन्द्र में मातृभाषा हो। यह ज़रूरी है कि इसी भाषा के माध्यम से बालक अपने भौगोलिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक परिवेश को समझता है तथा इसी संदर्भ में वह अभिव्यक्त भी करता है। बालक मूलस्वरूप से एक शोधकर्ता है। जन्म से मृत्यु तक वह अपने परिवेश का अवलोकन करता है, तथ्यः संकलित करता है, उनका विश्लेषण करता है, उन्हें संश्लेषित करके सामान्यीकरण करता है। वह अपनी त्रुटियों से सीखता है। सीखने के लिए आनन्दमयी, सुखदायी माहौल ज़रूरी है। विद्यालय आनन्द के स्रोत होने चाहिए। तनावरहित अधिगम माहौल ही ज्ञान, कौशल एवं अभिवृति का आधार होता है।

शिक्षा की जो विचारधारा इन सब बातों में विश्वास करती है उसका नाम है रचनावाद यानेकि निर्माणवाद अर्थात कन्स्ट्रेक्टीविज़म।

ए.के. पालीवाल, विद्या भवन गो.से. शिक्षक महाविद्यालय में पढ़ाते हैं।

निर्माणवाद कहीं हौवा तो नहीं?

साधना सक्सेना

शिक्षा की केंद्रीय सलाहकार समिति ने एनसीएफ–2005 के संशोधित स्वरूप को पारित कर दिया। कुछ जाने–माने विद्वानों की समीक्षाओं को आधार बनाते हुए एनसीईआरटी ने बाल केंद्रित शिक्षा और स्थानीय ज्ञान को आधार बनाते हुए शिक्षा के भगवाकरण व सांप्रदायिकता को नकारते हुए पूरी तरह से ख़ामोश कर दिया है। बाल केंद्रित शिक्षा को लेकर एनसीएफ –2005 में स्थानीय तंत्र और स्थानीय ज्ञान की बातें जिस जोर–शोर से कही गई हैं वे प्रतिगामी मूल्यों का विकास करेगी। हालांकि इस दस्तावेज़ की कुछ और भी समीक्षाएं हुई हैं जो इसके ढांचे की व्यावहारिकता पर शक करती है। जैसा कि श्रीमाली 2005 ने इंगित किया है – "एनसीएफ शब्दों के रूप में भारी पड़ता है... ढांचा निर्माण में (दोनों ही मानवीय और वित्तीय) यह दस्तावेज़ पूरी तरह से टालमटोल करता है। शिक्षकों से जुड़े मसलों, उनके पूर्वाग्रहों, उनकी अकादमिक दक्षताओं, कार्य और उनकी आवाज़ को तो उठाया गया है मगर डर है कि यह विषयवस्तु को कमज़ोर करेगा।''

इन आलोचनाओं के बावजूद, एनसीएफ –2005 ने एक ऐसी व्यवस्था तो बनाई है जिसने शिक्षा के केंद्रीय मसलों – ज्ञान, शिक्षणशास्त्र, निर्माणवाद, स्थानीय ज्ञान, बाल केंद्रित शिक्षा, शिक्षक, पाठ्यपुस्तकें, जानकारियों की भरमार, परीक्षा में सुधार और भी कई चीज़ों पर बहस छेड़ी है। एनसीएफ–2005 ने कई मौलिक सुझाव दिए हैं और कई प्रमुख मामलों को आगे बढ़ाया है। संभवतः पहली बार ही किसी सरकारी दस्तावेज़ में 'निर्माणवाद' और 'बालकेंद्रित' शिक्षा की अवधारणा के साथ वचनबद्धता निभाई गई है। पिछले दो दशकों से स्कूली शिक्षा के सिर पर चढ़कर बोल रहे न्यूनतम अधिगम सिद्धांत को एक सिरे से ख़ारिज़ किया है। हालांकि पारंपरिक व्यवहारवादी दायरे में शिक्षण करते हुए शिक्षक और शिक्षक प्रशिक्षकों ने 'बाल केंद्रित शिक्षा' जैसे जुमलों को बेहिचक इस्तेमाल करते हुए उन पर मानो छाप लगा दी थी। हमारे स्कूलों की मौजूदा हालात में इससे बाहर निकलने का कोई चारा नहीं दिख रहा था कि बच्चों को एक खाली बर्तन समझकर उनमें जानकारियां डालते रहें। कक्षा में शिक्षा के कारोबार की गुणवत्ता और हमारे स्कूलों की बदहाली और उनको लेकर व्यवस्थित ज्ञान के अभाव जैसी बातों के चलते हालात भयावह बन गए हैं।

इस पूरे निराशाजनक माहौल में, एनसीएफ–2005 से उम्मीद की गई कि अगर इसमें कुछ विवाद हुआ इन सब मसलों सुलझाएगा और लंबे वक़्त से शिक्षा के उपेक्षित मसलों पर बहस छेड़ सकेगा और एक नई ज़मीन को तोड़कर नई शुरुआत की पहल करेगा। एनसीएफ ने सबसे बड़ा बखेड़ा खड़ाकर जिसने आलोचनाएं आमंत्रित की है वह है स्थानीय और देशज ज्ञान को श्रेष्ठता देना। एक संपूर्ण चर्चा कि स्थानीय ज्ञान क्या है इसके राजनैतिक और ऐतिहासिक संदर्भ क्या हैं और इसको क्यों 'स्थानीय' कहा गया है? और इसको महज़ 'ज्ञान' क्यों नहीं कहा गया? इन सबकी एनसीएफ में कोई गुंज़ाइश नहीं है। हालांकि यह कहना समस्यामूलक होगा कि बच्चे अनिवार्य रूप से पूर्वाग्रह, प्रतिगामी और सांप्रदायिकता को साथ लेकर आते हैं। असल में यह भी सब ज्ञान की श्रेणी में आता है। बच्चे अपने साथ केवल पूर्वाग्रहों के साथ ही नहीं आते बल्कि सवालों, सृजनशीलता, विद्रोहशीलता और विकसित भाषाई और जटिल कौशलों को लेकर आते हैं। बच्चों के ज्ञान में शामिल है उनके साथ हुए अन्याय के अनुभव, ऊंच–नीच, उनके पीड़ित, दमित, शोषित और ख़िलाफ़त के अनुभव, अपने को बरकरार रख ने के लिए संघर्ष सकें और इससे भी कहीं ज़्यादा है। इसके चलते सब

बातों को दरकिनारकर कर यह कहना अनुचित होगा कि बच्चे केवल एक ख़ास मानसिकता या कहें कि एक माइंडसेट और पूर्वाग्रह के साथ ही आते हैं। बच्चे की सहजता तथा जिज्ञासा को ध्यान में रखकर स्कूल उनके साथ क्या करता है, यह चिरकाल से चिंता का मसला है। असल में, हाशियाकृत तबक़े के बच्चों के ज्ञान जिसके सामाजिक सरोकार बड़े गहरे हैं, को ताक़तवर कही जानेवाली राजनैतिक प्रक्रियाएं हाशिए पर धकेलती आई हैं।

एनसीएफ में स्थानीय ज्ञान से भी कहीं ज़्यादा भ्रम की स्थिति शिक्षणशास्त्र के प्रस्तुतीकरण, संज्ञान और ज्ञानमीमांसा को लेकर हैं, जो गहरी चिंता का विषय है। इस लेख के दो हिस्सों में मैंने यह सुलझाने की कोशिश की है कि सीखने के सिद्धांत और शिक्षणशास्त्र की दृष्टि से विज्ञान शिक्षण के संदर्भ में ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है। एनसीएफ–2005 के संदर्भ में मैं पहले हिस्से में विज्ञान शिक्षण को आधार बनाते हुए 'सीखना और ज्ञान' और 'पाठ्यक्रम के नवीनीकरण को लेकर शिक्षकों की शिक्षा' के बारे में चर्चा करूंगी। दूसरे हिस्से में होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को ध्यान में रखते हुए शिक्षणशास्त्र की विधि और ज्ञानमीमांसीय पहलुओं को पकड़ूंगी। उल्लेखनीय है कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण के तहत गतिविधि और खोज आधारित विज्ञान शिक्षण के पाठ्यक्रम को माध्यमिक स्कूलों में लागू किया गया था। पाठ्यचर्या और इसके विकास की बहस की चर्चा इस कार्यक्रम से गहरे रूप से सरोकार रखती है।

आख़िर कौन सा निर्माणवाद?

जनसाधारण की शिक्षा के संदर्भ में सबसे बड़ा संवाद निर्माणवाद को समझना रहा है। वर्तमान में निर्माणवाद को लेकर चल रहा संवाद दावा करता है कि इसकी या तो एक ही व्याख्या है या फिर कई व्याख्याओं और स्थितियों पर इसकी सर्वसम्मति है। सुविधा और समझ की ख़ातिर, विद्वान् लोगों ने निर्माणवाद को शैक्षिक निर्माणवाद, दार्शनिक निर्माणवाद और सामाजिक निर्माणवाद में विभाजित किया है। शैक्षिक निर्माणवाद का संबंध दार्शनिक और सामाजिक निर्माणवाद से है। मगर इस विचार की अपनी स्वायत्त और ऐतिहासिक जड़ें हैं। व्यक्तिगत विविधता को लेकर शैक्षिक निर्माणवाद का ज़ोर व्यक्ति आधारित ज्ञान और अवधारणाओं के निर्माण पर होता है। इसकी जड़ें पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धांतों पर टिकी हुई हैं। सामाजिक विविधता का शैक्षिक निर्माणवाद सामूहिक विकास और उसकी वैधता के विचारों पर ज़ोर देता है। इसकी उत्पत्ति वायगोत्सकी के विचार और उसके भाषा के काम में दिखाई देती है। (मैथ्यूज़ 1995)। इसलिए यहां सीखने के निर्माणवाद के सिद्धांत और निर्माणवादी शिक्षणशास्त्र में एक बुनियादी फ़र्क़ करना ज़रूरी होगा। जैसा कि आगे कहीं–कहीं पर केवल कक्षा के कारोबार में बाल केंद्रित शिक्षा, बच्चों को व्यस्त रखना, आनंददायी सीखना, सवाल उठाना, आदि का ही हवाला दिया है। यह हवाला ज्ञानमीमांसा और संज्ञानात्मक दर्शनशास्त्र की दृष्टि से अपर्याप्त है।

इसलिए, सीखने के सिद्धांतों में निर्माणवाद की कई सारी व्याख्याओं – दार्शनिक, ख़ासकर ज्ञानमीमांसीय निर्माणवाद या ज्ञान के सिद्धांत को सुलझाना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। इन हालातों के चलते विज्ञान प्रशिक्षकों में विगत कई सालों से गहरे विवाद का मसला रहा है। जैसा कि मैथ्यूज़ लिखते हैं शैक्षिक निर्माणवाद – मूलभूत रूप से सीखने और शिक्षणशास्त्र का सिद्धांत है– जिसको विज्ञान की प्रकृति और इंसानी ज्ञान के मामले में ज्ञानमीमांसीय और दार्शनिक विवाद के रूप में पकड़ा गया है।... इसको लेकर दो जाने–माने निर्माणवादियों ने हाल ही में लिखा है, "सत्य के प्रमाण हमारे बीच ही मौजूद हैं।" अगर सत्यता, सत्य रूप में उसके सांस्कृतिक और ज्ञानमीमांसीय शाखाओं में ले जाता है तो यह दावा हमें कम से कम ईसा पूर्व चौथी सदी में प्रोटागोरस के दौर में तक ले जाता है। (मैथ्यूज 1998)।

एनसीएफ –2005 के अध्याय 'सीखना और ज्ञान' में निर्माणवाद सिद्धांत का शिक्षणशास्त्र और सीखने के सिद्धांत जिसमें ज्ञानमीमांसीय दावे किए गए हैं, हमें इधर–उधर बहकाते रहते हैं। यह सिद्धान्त बच्चे को कुदरती तौर पर सीखनेवाले के रूप में और ज्ञान को बच्चे की ख़ुद की गतिविधियों के परिणाम के रूप में, पहचानने की ज़रूरत को स्थापित करता है और बच्चों को निष्क्रिय रूप से ज्ञान को प्राप्त करने की ख़िलाफ़त करता है। एनसीएफ वकालत करता है कि बच्चों को

श्रेष्ठता प्रदान करते हुए उनके स्वरों को और उनकी सक्रिय भागीदारी को महत्त्वपूर्ण माना जाए। पूरा ज़ोर बाल केंद्रित शिक्षा पर है जिसमें बच्चे अपने खुद के अनुभवों से सीखते हैं, बच्चे ज्ञान के निर्माता हैं, और शिक्षक की भूमिका एक मार्गदर्शक की होती है। वह बच्चों के ज्ञान का सम्मान करें और वह बच्चों के एक से अधिक जवाबों को स्वीकार करें। इससे बच्चों के अनुभवों को गौरव प्रदान करते हुए उनको बरकरार रखा जा सकेगा। कम से कम विज्ञान शिक्षण के संदर्भ में, यह सिद्धांत दिशा–निर्देश उपलब्ध कराने में असफल रहा है। इतना ही नहीं यह सिद्धांत मानव समाज में ज्ञान सृजन और ज्ञान के स्थानांतरण के ऐतिहासिक और दार्शनिक मसलों को हल नहीं करता है।

एनसीएफ के मुताबिक़, 'बाल केंद्रित' शिक्षणशास्त्र की योजना बनाने में बच्चों के मानसिक विकास और दिलचस्पियों को ध्यान में रखा जाए। यह एकदम बढ़िया बात है। हालांकि क्या बच्चों को अवधारणाओं के साथ संज्ञानात्मक रूप से या अवधारणा के निर्माण में व्यस्त रखना, ज्ञान के निर्माण के बराबर है? क्या ज्ञान का निर्माण करना किसी एक इंसान का उद्यम है? और जो ज्ञान मज़दूरों के द्वारा सैकड़ों सालों से समाज में अर्जित किया है वह ज्ञान नहीं है? एनसीएफ –2005 यह उम्मीद करता है कि बच्चों के अनुभवों को बिना किसी निर्देशों के शामिल करते हुए सीधे ही सैद्धांतिक रूप दे दिया जाए। एनसीएफ कहता है : ''इसके साथ उन सिद्धांतों का भी विकास होता है जो बच्चे प्राकृतिक और सामाजिक दुनिया के बारे में अपने विचार बनाते हैं। इसमें दूसरों के साथ अपने रिश्ते भी शामिल होते हैं और ये सिद्धांत उनको यह बताते हैं कि चीज़ें जैसी हैं वैसी क्यों हैं, कारण और कारक के बीच क्या संबंध हैं और कार्यकारी निर्णय लेने के क्या आधार हैं...। और इस तरह से निर्माणवाद संकेत देता है कि प्रत्येक सीखनेवाला व्यक्तिगत और सामाजिक तौर पर अर्थ का निर्माण करता है और सीखता है। अर्थ निर्माण करने का मतलब ही सीखना है।''

इस तरह से एनसीएफ द्वारा निर्माणवाद को ज्ञान के निर्माण में मसले से कहीं ज़्यादा बहुत ही लचर रूप से व्यवहार में लाया गया है। संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं और ज्ञानमीमांसा के बीच एक भ्रम इस पूरे हिस्से में ही विचरण करता दिखता है। वैज्ञानिक अवधारणाओं के विकास और किसी मौजूद चीज़ के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान जो शुरुआती दिलचस्पी का मसला होता है, उसकी समझ को लेकर समझ के निर्माण को व्यापक करने में यह सिद्धांत असफल रहा है।

निर्माणवाद को लेकर जो समस्याएं विज्ञान शिक्षण के माध्यम से रखी गई हैं वे विज्ञान की विषयवस्तु की मूलभूत सैद्धांतिक समस्याएं हैं न कि व्यावहारिक। अगर ज्ञान को दिया नहीं जा सकता, और ज्ञान को व्यक्तिगत, हरेक के अनुभव के आधार पर निर्माण करना चाहिए तो फिर बच्चे उस जटिल अवधारणात्मक योजनाओं के ज्ञान को कैसे अर्जित कर सकते हैं जिनको बनाने में कई दिमाग़ों ने सैकड़ों साल खपा दिए? असल में, एक जाने–माने अंग्रेज़ विज्ञान प्रशिक्षक जॉन सोलोमन ने इस बात को सही तरीक़े से कहा है: ''निर्माणवाद हमेशा किसी चीज़ के स्थापित ज्ञान के सीखने के ईद–गिर्द बंधा रहता है।'' (सोलोमन 1994:16 मैथ्यूज़ 1998:8)।

इसी प्रकार यह अहम है कि सीखने की प्रक्रियाएं जो विभिन्न संकायों के क्षेत्रों में मौजूद हैं उनके बीच भी फ़र्क़ करना ज़रूरी है। अग्निहोत्री भाषा के सीखने और विज्ञान के सीखने के बीच के अंतर का बयां कुछ इस तरह से करते हैं:– ''चौम्स्की सीखने के बारे में स्थापित करते हैं कि (पूरी तरह से तमाम शंकाओं से परे हटकर) भाषा एक प्रकार का अमूर्त ज्ञान है जो उससे बच्चा या एक वयस्क स्पष्ट तौर पर नहीं जुड़ पाता। हालांकि बच्ची जो भी कहती है उसके प्रमाण उस भाषाई ज्ञान में दृष्टिगोचर होते हैं। चौम्स्की इस बात को प्लेटो की समस्या के रूप में रखते हैं। जैसे कि एक बच्चे को बहुत थोड़ा सा दो और बच्चा आख़िर बहुत ज़्यादा कैसे सीख पाता है? भाषाई या दृश्य संसार में यह साफ़तौर पर लगता है और हम इस द्वंद्व को निरंतर देखते हैं कि बच्ची के सीखने में कितनी सहजता और नैसर्गिकता है और अनुभवों की कितनी सच्चाई है? भाषा के इस ठोस ज्ञान को अचेतन के स्तर पर रचित किया जा सकता है। यानेकि एक बच्ची अचेतन में भाषा सीखती है। उसको भाषा सिखाई नहीं जाती। इसी प्रकार पियाजे इससे भी कहीं आगे जाकर तमाम शंकाओं को दरकिनार करते

हुए स्थापित करते हैं कि बच्चे संज्ञानात्मक विकास के दौरान मसलन, गिनती, द्रवों और वजन के संरक्षण और उनको नापने और ठोस क्रियाओं से औपचारिक क्रियाओं की अवस्थाओं तक पहुंचते हैं या उनकी संरचनाओं को सीखते हैं। एक उदाहरण कि 'जगह की समझ' का यह ज्ञान भी मोटे तौर पर बच्चो में अचेतन में ही होता है।''

जो बात भाषा और जगह आदि के मामले में लागू होती है वह ज्यामितीय या इंटिग्रल या डिफरेंशियल कलकुलस, अणु की संरचना, न्यूटन के मशीन संबंधी नियम या आइंस्टीन के सापेक्षतावाद सिद्धांत के संदर्भ में लागू नहीं हो सकती। इन मामलों में शिक्षक केवल एक मार्गदर्शक के रूप में अपनी भूमिका अदा नहीं कर सकता। शिक्षक को इससे कहीं ज़्यादा भूमिका अदा करनी होती है। अगर कोई किसी औपचारिक जगह जैसे कि स्कूल या कॉलेज में औपचारिक ज्ञान की बात करता है तो उसको इस मामले में निश्चिंत होना पड़ेगा कि सीखनेवाले को जानने के महज़ प्रयोगात्मक प्रमाण (अगर कोई है तो) ही नहीं देने होते हैं बल्कि उसको यह भी जानना होता है कि वह ज्ञान कैसे रचा गया है। इस प्रकार के ज्ञान को बच्चा इस दायरे में सहज़ रूप से नहीं रच सकता। इस प्रकार के ज्ञान को अवधारणात्मक रूप से रचने के लिए हमें शिक्षक और सीखनेवाले के बीच एक फ़र्क़ जगह देने की ज़रूरत होगी। केवल प्रायोगिक प्रमाणों को जानने से काम बननेवाला नहीं है जो उससे संबंधित हो सकता है मगर उससे भी कहीं ज़्यादा सैद्धांतिक प्रेरणाओं की ज़रूरत है जिसने मूलभूत रूप से प्रयोगों को करने की प्रेरणा दी। कई मामलों में जैसे कि गणित में, कोई प्रयोगाश्रित प्रमाण संभव नहीं है। भौतिकी के कई क्षेत्रों में कई सालों पहले के हक़ीक़त में किए गए प्रयोगाश्रित प्रमाणों की मदद से ही मदद मिलती है। (अग्निहोत्री 2006 से व्यक्तिगत चर्चा पर आधारित)।

विज्ञान सीखने में बच्चे के अपने अनुभवों से सीखने के विरोध में जैसे कि सदरलैंड तथा और भी कई विद्वानों का कहना है : ''वर्तमान में मौजूद श्रेष्ठ वैज्ञानिक स्पष्टीकरण को इस्तेमाल करते हुए किसी सिद्धांत को स्वीकारना, वैज्ञानिक सिद्धांत की वैधता की पहचान करना, यह किसी के व्यक्तिगत मतों का मसला नहीं है। बल्कि मान्यता के ख़िलाफ़ एक मज़बूत तर्क देना होता है।''

मैथ्यूज़ बहुत ज़ोर से इसकी वकालत करते हैं कि विज्ञान शिक्षक को विज्ञान के दर्शनशास्त्र और उसके इतिहास में महारथ हासिल करनी होगी कि इतिहास और दर्शनशास्त्र में दक्ष विज्ञान शिक्षक, छात्रों की अपनी दुनिया में विज्ञान को कैसे पकड़ता है और कैसे नहीं।(मैथ्यूज़ 1992:28)

विज्ञान शिक्षण में शिक्षक की भूमिका

एनसीएफ के इस प्रयास में जिसमें बच्चों को फोकस किया गया है, लगता है यह दस्तावेज़ शिक्षक को एक मध्यस्थता करनेवाले या एक उस्ताद की भूमिका से हल्का या तुच्छ समझता है। यह दस्तावेज़ संकेत करता है कि बाल केंद्रित मिसाल में निर्देशों के माध्यम से शिक्षक महज़ एक फैसिलिटेटर है और ज्ञान के संवाहक के रूप में उसकी भूमिका नकारी हुई सी लगती है। यह दस्तावेज़ मानता है कि शिक्षक की भूमिका ज्ञान के स्रोत से खिसककर एक फैसिलिटेटर की हो गई है ...(एनसीएफ –2005:109) पाठ्यपुस्तकों में धंसी बाहरी सच्चाई के बजाए सीखने–सिखाने के साझा संदर्भों में निर्मित ज्ञान के प्रति नज़रिया व्यक्तिगत अनुभवों जैसा लगता है। यहां एक और भटकाव है जिसमें ज्ञान की अवधारणा को सतत प्रक्रिया के रूप में देखा गया है और अपने आसपास के अवलोकनों, अपने अनुभवों से सत्यापित होता है आदि।

तथापि इस प्रकार की अवहेलना संकाय की मूलभूत दुविधा है। विज्ञान शिक्षण के बारे में लिखते हुए वैल–बारियाज़ कहती हैं : प्रारंभिक अध्ययनों से यह प्रकट हो चुका है कि बच्चों के द्वारा जो संकल्पना इस्तेमाल की जाती है वह संज्ञानात्मक अवरोध को पैदा करती हैं न कि संभावित आधारशीला बनाती है जिस पर वह समस्या टिकी हुई है। असल में बच्चे बहुधा वैज्ञानिक प्रतिमानों से ज़ुदा होते हैं। निर्माणवादी दायरे में ज्ञान के संचरण को शिक्षणशास्त्र के माध्यम से जहां प्रोत्साहित नहीं किया गया हो वहां इसका समाधान कैसे होगा? वैल–बारियाज़ ने ज्ञानमीमांसीय अवरोध की अवधारणा पर लौटते हुए इस बात पर ध्यान दिया है कि ''छात्र पूर्व ज्ञान के मद्देनज़र वैज्ञानिक ज्ञान के निर्माण में रुकावट

के रूप में जूझते हैं। वैल इस पर ज़ोर देती हैं कि सीखने की प्रक्रियाएं एक तरह से संचित प्रक्रिया (जैसा कि व्यवहारवादी सिद्धांतों में कहा गया है) के विपरीत अवधारणा की कायापलट से हल होती है। एक भौतिकशास्त्री विजय एस. वर्मा जो कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण में 30 सालों से शामिल थे, 'अलगाव' के बारे में विश्लेषण करते हैं, ''किसी छात्र में गलतफहमी तब पैदा होती है जब हम बाहरी दुनिया की समझ केवल उन अनुभवों के आधार पर बनाते हैं जिसको हमने अपनी जिदंगी में महसूस किया न कि औपचारिक निर्देशों के द्वारा।'' असल में ये गलतफहमियां औपचारिक निर्देशों के बाद भी दृढ़ बने रहती हैं।

निर्माणवादी जो अपने आपको व्यवहारवादियों से अलग करते हैं उसमें वे विशेष रूप से सीखने की प्रक्रियाओं के अंदर और बाहरी सामाजिक विवादों के विचारों से फ़र्क़ करते हैं। वैल संक्षेप में कहती हैं, "ऐसा इसलिए है क्योंकि शिक्षक का छात्रों से जो सामना होता है उसमें शिक्षक बहुत ही विशिष्ट प्रकार की समस्याएं लेकर पेश होते हैं जो कि छात्रों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी से अलग होती है। शिक्षक को लगता है कि छात्र प्रेरित होकर वैज्ञानिक प्रतिमान के रूप में ग्रहण कर लेंगे।'' वह इस बात पर बल देती हैं कि दैनिक जीवन के प्रतिमान और वैज्ञानिक प्रतिमान एक ही तरह से काम नहीं करते हैं। वह बताती हैं कि समस्या के हल के अध्ययन और प्रतिमान बनाने में शिक्षक का महत्त्व और उसकी भूमिका एक मध्यस्थ के रूप में उभरकर समाने आती है। और शिक्षक प्रशिक्षण के व्यावसायिक कौशलों की ज़रूरत के मद्देनज़र निर्माणवाद या सामाजिक निर्माणवाद प्रभावशाली रास्ते की ओर ले जाती है। शिक्षक एक पथ प्रदर्शक के रूप में होता है, शिक्षक या शिक्षिका ज्ञान का एक स्रोत है। मक़सद यह है कि शिक्षक और छात्र मिलजुलकर ज्ञान का निर्माण करें न कि केवल छात्र अकेला ज्ञान का निर्माण करे।

जबकि वायगोत्सकी छात्रों की रोज़मर्रा की अवधारणाओं, उनकी ख़ुद की संकल्पनाओं और वैज्ञानिक संकल्पनाओं को, जो उनकी अपनी संकल्पनाओं से जुदा हैं, को अलगाव या तोड़–फोड़ के रूप में न देखकर विकास की ही प्रक्रियाओं से जोड़कर देखते हैं। ये दोनों ही यानेकि छात्रों की रोज़मर्रा को लेकर बनी संकल्पनाएं और वैज्ञानिक संकल्पनाएं, एक दूसरे से संबंधित हैं और निरंतर एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। छात्र शिक्षक के निर्देशों की भूमिका पर ज़ोर देता है। स्कूली बच्चे के लिए निर्देश एक मुख्य अवधारणा है और इतना ही नहीं यह निर्देश बच्चों के विकास में साक्षात् रूप से शक्ति भी है। निर्देश बच्चे के मानसिक विकास के निर्धारण में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं।

इसी प्रकार से, निर्माणवाद पर लिखते हुए ब्रोसार्ड कहते हैं : छात्रों की सहज़ रूप से उभरने वाली अवधारणाओं के विस्तार से इस तरह की वैज्ञानिक अवधारणाएं नहीं बनती वे शिक्षक के द्वारा अपने शिक्षण में लाई गई होती हैं, जिसका सरोकार इस बात से हैं कि शिक्षक उन अवधारणाओं से छात्रों को सही वक्त पर रूबरू करा सके। फिर भी यह शिक्षक पर निर्भर करता है कि वह कोई तरीक़ा अपनाएं जिसके मुताबिक़ वैज्ञानिक ज्ञान को वह छात्रों के समक्ष रखने की अभिलाषा रखता हो। इसीलिए विकसित ज्ञान जो शिक्षक पढ़ाना चाहता है उसके अनुसार सीधे प्रयत्न से रास्ता बनता जाता है।

ब्रोसार्ड स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि छात्र को एक वृत्त में सोचने के लिए कहा जाता है। वृत्त जिसके परिचालन में वह अभ्यस्त नहीं हुआ है और इसीलिए शिक्षक द्वारा पूछे गए सवालों के ज़रिए वह अभ्यस्त होता है। इस प्रयास में शिक्षक छात्रों से सवाल पूछकर उनके स्पष्टीकरण पूछता है और एक दिशा मिलती है। इसीलिए कहा यह जा रहा है कि छात्र अपने स्तर पर ख़ुद करने के योग्य नहीं होते हैं, वे शिक्षक के साथ करते हैं। इसीलिए शिक्षक की यह व्यावसायिक ज़िम्मेदारी बनती है कि वह अपने विषय के बारे में स्कूल की सीमा से परे जाए और उसको क्या पढ़ाने की ज़रूरत है इस पर गहराई से विचार करे।

शिक्षक के ज्ञानमीमांसीय दायरे की भूमिका पर मैथ्यूज़ इस बात को भी रेखांकित करते हैं कि जिन शिक्षकों की सोच में कुछ बुनियादी ज्ञानमीमांसीय सवाल होते हैं वे उनके ज़रिए किसी कथन के समर्थन को बढ़िया ढंग से समझा सकेंगे उनकी बनिस्बत जिनका दार्शनिक ढंग से प्रशिक्षण नहीं हुआ है। मैथ्यूज़ कहते हैं कि कक्षा–कक्ष में उन कथनों की मान्यताओं को समझाना एक कठिन कार्य है जब उनके बारे में बच्चे के

प्रायोगिक नतीजे और अवलोकन बहुत विरोधी होते हैं। उनको कैसे कहा जाए कि वे उनपर भरोसा करें। अवधारणा को बनाना अपने आप में एक दुष्कर और जटिल कार्य है। इसमें विशिष्ट प्रयासों की ज़रूरत होती है। अवधारणाओं को मामूली तौर पर रटकर अर्जित नहीं किया जा सकता बल्कि ये बच्चे की मदद करने से विकसित होती है। बच्चे में अवधारणाओं के विकास में निर्देश बुनियादी साधन की भूमिका अदा करते हैं। इस प्रक्रिया को दिशा देने में निर्देश एक बहुत ही ताक़तवर शक्ति का काम करते हैं।

हालांकि, एनसीएफ–2005 में बच्चों के अनुभव पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देकर शिक्षक की भूमिका और उसके निर्देशों को कम करके आंका गया है। यह ज़ोर हक़ीक़ती तौर पर कहीं ज़्यादा जटिल और पूरी तरह से अलग तरह के शिक्षक की तैयारी की मांग करता है। जैसा कि ब्रोसार्ड ने देखा है , "शिक्षक को प्रभावशाली ढंग से कई तरह की गतिविधियों का इस्तेमाल करना चाहिए– समालोचनात्मक बातचीत, विरोधाभासी सुझाव, फिर से निर्माण करने की गुज़ारिश। ये तमाम किस्म की क्षमताएं एक ही क्षेत्र के ज्ञान में एक अलग तरह से सीखने–सिखाने की शुरुआत करती है। शायद हममें से बहुत से जानते हों कि कैसे दक्ष शिक्षक शिक्षा को सफल बनाते हैं। बढ़िया शिक्षक स्कूल की भयभीत करनेवाली परिस्थितियों में, बुरे से बुरे पाठ्यक्रम के बावजूद कुछ हद तक शिक्षण को उबारकर बचा पाते हैं। और ख़राब शिक्षक बढ़िया पाठ्यक्रम का सत्यानाश कर देते हैं और बढ़िया भौतिक सुविधाओं की फिजूलख़र्ची करते रहते हैं।

विज्ञान शिक्षण में निर्माणवाद : एक समालोचना

निर्माणवाद में समझ के विकास की अवधारणा बनाने में सीखनेवाले बच्चे की सक्रिय भागीदारी की ज़रूरत है। शिक्षणशास्त्रीय रूप से निर्माणवाद में बच्चों के अनुभवों का सम्मान करने से, उनकी दुनिया के अर्थ को समझने आदि से बच्चों में अपने ज्ञान का निर्माण होता है। मगर इस वाक्य में केवल इतना भर ही नहीं है। जैसा कि माच चेतावनी देते हैं : सजीव दुनिया अद्वितीय और जीवंत विज्ञान है, जहां से जिज्ञासा और अचरज पनपते है। मगर उसको जड़त्वीय दुनिया से उलझाना नहीं है। या जैसा कि मैथ्यूज़ बताते हैं : "इसका व्यावहारिक शिक्षणशास्त्र उपदेशात्मक के ख़िलाफ़ है। छात्र केंद्रित में ज़ोर इस पर है कि छात्र खुद व्यस्त रहकर समस्या को पहचाने, परिकल्पना का विकास करे, उसको जांचे और उस पर तर्क करे।''

निर्माणवाद की समालोचना ने ख़ासकर विज्ञान सीखने में कई बुनियादी मसलों को उठाया है कि ज्ञान क्या है। मसलन, निर्माणवाद में समाज के किस आयाम को ध्यान में रखते हुए ज्ञान दिया जाए? पूर्व संकल्पनाओं के ख़िलाफ़ छात्रों की जिन संकल्पनाओं की पर्याप्तता को लेकर मापदंडों को अपनाया गया है, क्या उनको वैज्ञानिक बिरादरी की कसौटी पर या दूसरे छात्रों के संदर्भ में या किसी व्यक्ति की कसौटी पर जांचा–परखा गया है?

यह बहुत दिलचस्प है कि 1993 में न्यूज़ीलैंड के विज्ञान शिक्षण के पाठ्यक्रम को लेकर वहां एक जन संवाद उभरा जिसको वहां के शिक्षा मंत्रालय ने प्रकाशित किया। शिक्षा मंत्रालय ने इस मसले पर वहां के प्रमुख अख़बारों, कुछ रेडियो और टीवी में साक्षात्कार जारी किए। विश्वविद्यालय के लोग, स्कूल के शिक्षक, प्राचार्य, मंत्रालय के अधिकारीगण और बहुत से दूसरे लोगों ने इसमें भागीदारी की। ऑकलैंड में कई सारी जन बैठकों का आयोजन किया गया। बहस का प्रमुख मुद्दा न्यूजीलैंड के विज्ञान शिक्षण में निर्माणवाद के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रभाव और वहां की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के दस्तावेज़ पर आधारित था। मैथ्यूज़ के मुताबिक़, एक मंत्र की तरह बार–बार यह दोहराना कि "बच्चे अपने ज्ञान का निर्माण खुद करते हैं" मगर ऐसे मंत्रों के अर्थों को कभी भी नहीं समझा गया।

न्यूज़ीलैंड की यह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या वैज्ञानिक सोच की इस रूप में पहचान करती है कि, "जिज्ञासु, सृजनशील बनाना, अनुमान लगाना, विचारों और अहसासों को स्पष्ट करना, अपने ही सोचे गए पर सोचना।'' मैथ्यूज़ स्वीकार करते हैं कि ये सभी विशिष्टताएं सराहनीय हैं। मगर ये सब वैज्ञानिक नहीं है। इस पाठ्यचर्या में सत्य और ज्ञान के बदले भाव रचने को कहा गया है। जैसा कि विषय–वस्तु कहती है "लोगों के जैविकीय, भौतिकीय और

तकनीकी दुनिया की छानबीन करना और उसका अन्वेषण करना। तार्किक तथा सृजनात्मक रूप से उनके बारे में भाव बनाना विज्ञान है।'' मगर मैथ्यूज़ बताते हैं कि विज्ञान के लक्ष्य और प्रकृति जैसी है उसके अनुसार दुनिया के बारे में भाव बनाने का ख़्याल मिथ्या और ख़तरनाक़ धारणा है। दरअसल विज्ञान के माध्यम से दुनिया की सच्चाइयों के बारे में पता लगाना होता है। जब ये सच्चाइयां खोज ली जाती है और जिनके सामान्य तौर पर भाव स्पष्ट नहीं होते है तो फिर उनके आधार पर सामान्य भाव के पुनर्निर्माण की ज़रूरत होती है।

सदियों से विज्ञान के ज़रिए दुनिया के बारे में जानना या भाव बनाना गहन दार्शनिक बहस का मसला रहा है। पिछले दो हज़ार सालों से अरस्तूवाद की बहस ने दुनिया और मानव के अनुभवों को अचरज में डाल रखा था। बाद में आख़िर यह सही साबित नहीं हो पाया। गैलीलियो और दूसरों का तर्क यह था कि वे दुनिया के भाव बनाने में असफल रहे। उन्होंने यह तर्क दिया कि दुनिया अरस्तूवाद जैसी नहीं है।

ज्ञानमीमांसा को हमारे रोज़मर्रा के बोध से तोड़ने का काम न्यूटनवाद ने किया जिसमें बहुधा विज्ञान के निर्देशों को भुला दिया गया है। इस प्रकार स्पष्ट निर्देशों की हिदायत आज एक पहेली बन चुका है। ज्ञानमीमांसा को रोज़मर्रा के बोध से तोड़ने को कम करके आंकना शिक्षकों के बीच विशेष रूप से प्रचलित है। जबकि अधिकांश शिक्षक विज्ञान के प्रयोगाधारित सिद्धांतों पर ही चलते हैं। हालांकि वोलपर्ट कहते हैं : ''वैज्ञानिक विचार, कुछ दुर्लभ अपवादों को छोड़कर, सहज ज्ञान के उलट होते हैं, ऐसे वैज्ञानिक विचारों को आमतौर पर रोज़मर्रा के अनुभवों से और मामूली निरीक्षण के माध्यम से अर्जित नहीं किया जा सकता।''

विज्ञान सीखने को किसी चीज़ के साथ खेलते हुए दुनिया के बोध को बनाने की बात की गई है। इस तरह की अभिव्यक्ति बाल केंद्रित शिक्षा के शिक्षणशास्त्र में से प्रकट होती है जो शायद वैज्ञानिक विधि को सराहती है। छात्रों से यह अपेक्षा करना कि वे किसी चीज़ के साथ खेलते हुए न्यूटनवाद को सीखें यह बात न्यूटन और गैलीलियो की क्रांति के प्रतिपादन को न्यूनतम करती है। इतना ही नहीं ऐसा करने से वैज्ञानिक दुनिया के प्रति नज़रिए के शास्त्र को समझने को कमतर करके आंकती है। मैथ्यूज़ कहते हैं कि खेल के साथ मस्ती में या किसी वास्तविक चीज़ को देखते रहने से जड़त्वीय, बल की परिभाषाएं, ज्यामितीय और कलन के कई सूत्र पकड़ में नहीं आएंगे। वैज्ञानिक आदर्शीकरण की धारणा इस तरह के मामलों में कई सवालों को जन्म देती है। क्या ये मिथक नहीं है कि असली दुनिया तो उस पारस के ख़िलाफ़ है जिसके बारे में हमें अपने विचारों को न्याय देना है। उस पारस के बारे में दुनिया के अलग विचार हैं। (मैथ्यूज़ 1992)।

यह कहना दिलचस्प है कि एनसीएफ–2005 के साथ निर्माणवाद के जुड़ाव के साथ–साथ इसकी कुछ–कुछ बातें न्यूज़ीलैंड के 1993 की पाठ्यचर्या के ढांचे से मिलती–जुलती है। इसको एक तरह का संयोग कहें या कि सीखने के न्यूनतम अधिगम स्तर के संवाद से पलटना है। एक ठोस प्रयास जिसमें बाल केंद्रित शिक्षणशास्त्र की ओर बढ़ना है मगर ज्ञान के निर्माण की रंगभूमि में उतरे बिना ये कैसे संभव हो सकता है? जो भी हो, हक़ीक़त में यह एक गंभीर मसला है। मंत्रों की बयानबाजी से निर्माणवाद, बाल केंद्रित शिक्षा की सुरक्षा करने की ज़रूरत है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अगर शिक्षक अपने छात्रों की कक्षा को समृद्ध बनाना चाहते हैं तो वे सीखने के सिद्धांतों, शिक्षणशास्त्र, और ज्ञान के सिद्धांतों में अंतर करना सीखें।

निर्माणवाद और होशंगाबाद विज्ञान के अनुभव

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) की पहल देश के मध्यप्रदेश जैसे पिछड़े राज्य के दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्र में शुरूआत के बतौर की गई थी। विज्ञान की कक्षाएं बेतुके और अर्थहीन जहां मानो किसी ओर ग्रह से लाकर थोपे गए तकनीकी शब्दों, परिभाषाओं, विवरण, सूत्र और समीकरणों से अटी पड़ी थी। बच्चे दोहरा–दोहराकर रटने को बाध्य होते और और उन्होंने क्या समझा है इससे कोई सरोकार नहीं होता। सन् 1970 के दौरान एनसीईआरटी की प्रमुख चिंता इस इस पर थी कि विज्ञान के क्षेत्र में हुए ज्ञान के विस्फोट को स्कूली विज्ञान की किताबों में शामिल किया जाए। एनसीईआरटी के द्वारा इस रूख को अख्तियार करने का अर्थ यह था कि विज्ञान की किताबों के स्तर को और ऊपर उठाना था जिसका मतलब था कि ज्यादा से ज्यादा जानकारियां, विवरण

और क्लिष्ट अवधारणाओं को निचली कक्षाओं से ही भर दिया जाए। इसके पीछे मान्यता यह थी कि अगर छोटी कक्षाओं से ही बच्चों का सामना इन अवधाराणाओं से होगा तो वे निश्चित तौर पर बेहतर ढंग से समझ सकेंगे।

यह भी घोषणा की गई थी कि कक्षाओं में विज्ञान में प्रयोग करवाना भारत जैसे गरीब देश में संभव नहीं है। यही वजह है कि किताबों में प्रयोगों का विवरण दिया होता था। मगर पाठ्यपुस्तक निर्माताओं का प्रमुख जोर इस पर होता था कि वे विज्ञान के नए ज्ञान को जितना आसान बनाया जा सकता है बनाकर शामिल करें। इसका नतीजा धीरे–धीरे यह हुआ कि उन विज्ञान की किताबों को शिक्षकों को भी समझने में दिक्कतें होने लगी। तो इस प्रकार से नौबत वही आ गई कि किताबों में जानकारियों का अंबार लग गया और उपदेशों का राग अलापने लगी और बच्चों को अर्थहीन चीज़ों को रटना पड़ता।

होशंगाबाद विज्ञान के माध्यम से एक छोटी सी शुरूआत करके इस समस्या का तोड़ निकाला गया। इस कार्यक्रम के तहत विज्ञान में प्रयोगों और अवलोकनों को प्रमुख जगह दी गई। प्रयोगों से प्राप्त अवलोकनों से आंकड़े एकत्र किए जाते जिनका विश्लेषण और चर्चा करके धीरे–धीरे अवधारणाओं की समझ विकसित की जाती। जैसा कि व्यवहारवादी दायरे के ठीक उलट होविशिका में विज्ञान सीखने का आधार खोज आधारित प्रयोग करके सीखने पर था। ग्रामीण परिवेश को आधार बनाते हुए पर्यावरण से सीखने का एक प्रमुख सिद्धांत बनाया गया। पाठ्यपुस्तकें जिन्हें कार्यपुस्तक कहना उचित होगा ऐसी तैयार की गई कि जिनमें बच्चों को प्रयोग करने, अवलोकनों तथा विश्लेषण के लिए उचित दिशा निर्देश दिए गए। कार्यपुस्तक में ही एक के बाद एक ऐसे सवाल शामिल किए गए जिनके जवाब बच्चों से अपेक्षित होते थे। इन सवालों की तासीर लगभग वैसी ही है जैसे कि सुकरात ने मैनो से हुए संवाद में किए थे। इसी तर्ज पर सवाल शिक्षक बच्चों से विज्ञान की कक्षा में करते। इस पूरी प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका अहम थी। सरकारी स्कूली शिक्षा में जहां कुछ भी नया करने की गुंजाईश नहीं थी ऐसे माहौल में पाठ्यक्रम के स्तर पर यह बदलाव अपने आप में बड़ी बात थी। यही वजह थी कि यह कार्यक्रम 30 सालों तक मध्यप्रदेश की मुख्यधारा की स्कूलों में बड़े तादाद पर संचालित किया गया जिसमें काफी सीखना हुआ और नवाचार की ओर अग्रसर हो सके।

स्वाभाविक है कि होविशिका का संदर्भ इस निर्माणवाद की चर्चा को एक सीखने के सिद्धांत, ज्ञान के निर्माण तथा उसे अर्जित करने और ज्ञानमीमांसा के रूप में समझने में एक मंच प्रदान करेगी। हालांकि ध्यान देने योग्य बात यह है कि होविशिका के तहत जो बच्चे पढ़ते थे वे 11 से 14 साल के थे जो कक्षा छठी से आठवीं तक के थे। यह कार्यक्रम सभी बच्चों के लिए विज्ञान शिक्षण को औपचारिक सिखाने के पहले चरण के रूप में देखा जा रहा है।

पाठ्यचर्यागत संभावनाएं, सीमाएं और चुनौतियां

प्रयोग और गतिविधि आधारित समृद्ध पाठ्यचर्या का विकास बच्चों को रोजमर्रा के जीवन और भौतिक विज्ञान के विभिन्न तथ्यों का पता लगाने के लिए किया जाता है। कई तरह की मात्रात्मक मापों और उनके विश्लेषण करने के लिए सरल गुणात्मक प्रयोगों के माध्यम से पाठ्यक्रम को समझना बच्चों के लिए सरल बना देता है। कक्षा आठवीं तक आते–आते प्रयोगों के आधार पर बच्चों के लिए यह संभव हो पाता है कि वे मात्रात्मक संबंधों को समझकर उनको सूत्र में व्यक्त कर सकें। इसी प्रकार से बच्चों के गुणात्मक अवलोकन धीरे–धीरे परिष्कृत होते जाते हैं और सूक्ष्मदर्शी का इस्तेमाल करते हुए उन्हें सूक्ष्म दुनिया से रूबरू होने की ओर ले जाते हैं। परिकल्पनाओं का निर्माण और उनकी जांच की शुरुआत गुणात्मक संबंधों, और कारण और प्रभाव से उठनेवाले सवालों की शुरुआत होती है। मॉडल बनाने के लिए भी कुछ कोशिशें होती हैं। इस तरह से विज्ञान की विधि में एक गंभीर शुरुआत संभव हो पाती है।

शुरुआत के सालों में, प्रयोग आधारित सीखने पर ज़ोर दिया जाता था। जबकि इसके बाद की शुरुआत खोजबीन के माध्यम के चलते अनुभव प्राप्त करते हुए सीखने की ओर बढ़ते हैं। यह सीखना आगे बढ़ते हुए उस विषय–वस्तु की सीमा में बंध जाता है। जिस विषय–वस्तु में प्रयोग और गतिविधियां सुसंगत नहीं होती उसमें इस डर की वजह से कि ज्ञान का सीधा हस्तांतरण रटने को बाध्य करते हुए समझ को उलट न दे। खगोलशास्त्र, सूक्ष्मजीवशास्त्र, परमाणु संरचना विकासवाद और रासायनिक संरचना आदि की अवधारणाओं को

पढ़ाने में गतिविधियां अवरोधों को पैदा करती है। क्योंकि इन अवधारणात्मक क्षेत्रों को प्रस्तुत करने के लिए प्रयोग या अवलोकनों को कराना संभव नहीं हो पाता। विवाद का मसला यह था कि हो न हो अमूर्तीकरण का जो स्तर इन अवधारणाओं से जुड़ा हुआ है वह बच्चों के आयु समूह से परे है। यह ज्ञान निर्माण के दार्शनिक मुद्दों और प्रयोगवादी विधियों की ऐतिहासिक आलोचना करने के समान ही महत्त्वपूर्ण था।

यह इतना आसान नहीं था कि बहुत ही अनुकूल रास्ते से पाठ्यचर्या के विकल्पों के ज़रिए जो मसले उठाए गए हैं उन तक पहुंचा जा सके। अक्सर प्रयोगों की संभावना महज़ संयोग पर रही है कि वे हो पाते हैं या नहीं, न कि अवधारणाओं की तारतम्यता जो यह निर्धारित करे कि उनको शामिल करना या हटाना है। उदाहरण के लिए शिक्षक और बच्चे एक पाठ 'संयोग और संभाविता' में दी गई गतिविधियों को करते हुए मज़ा ले रहे हैं मगर यह दावा करना कठिन होगा कि इस पाठ की अवधारणा को वे पूरी तरह से समझ गए होंगे।

यहां तक कि प्रयोगों के माध्यम से अवधारणात्मक समझ तक पहुंच की प्रक्रिया से इसकी समस्याएं ख़त्म नहीं होतीं। बच्चों के लिए यह संभव होता है कि मामूली से बल्ब और सेल से सर्किट बनाकर यह समझ जाते हैं कि बल्ब रोशनी तभी देता है जब सर्किट पूरा होता है मगर यह अमूर्त विचार कि जब परिपथ पूरा होता है तभी बिजली बहती है, उतना स्वाभाविक नहीं है। एक मॉडल जिसमें कोई परिपथ जुड़ा हुआ हो और 'बहने' के बारे में कुछ अटकलें लगाने को कहा गया है : जैसे कि अगर हम किसी तार को काट दें तो यह वैसा नहीं होना चाहिए जैसा कि एक पानी की नली को काटने से होता है। असल में ये सवाल और चर्चाएं समझ को विकसित करने के लिए होती हैं। जैसे कि 'बिजली तारों में बहती है' यह सीमित उपमा है जिसमें तुलना के लिए संभवतः कोई ठोस मॉडल और अमूर्तीकरण को परिभाषित करने के कोई तयशुदा नियम नहीं है।

ज्ञानमीमांसा के दो अनसुलझे सवाल

अमूर्त आदर्शीकरण और मॉडल निर्माण के अनेक उदाहरण हैं जिनको आम पाठ्यक्रम सामान्यरूप से अपूर्ण और सतही तौर पर प्रस्तुत करता है। इसके पीछे ज्ञान की प्रक्रिया को लेकर कुछ बुनियादी सवाल हैं। पाठ्यचर्या के निर्माण को लेकर कुछ चुनौतीपूर्ण सवाल यहां दिए जा रहे हैं :

- जो हम सोचते हैं या हमारे मन में जो चलता है, जैसे कि अनुभव और वैज्ञानिक सच्चाई के बीच के विरोध को हम कैसे देखें? विज्ञान और समालोचनात्मक सोच के जरिए लोग सही रिश्ते बनाते हैं। इसमें रोज़मर्रा के आम अनुभव, भाव और बिना प्रमाण के ज्ञान को हटाना शामिल होता है। उदाहरण के लिए सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता हुआ दिखाई देता है। इससे तो यह प्रकट होता है कि भौतिक वस्तुओं की गति को क़ायम रखने के लिए व्यावहारिक ताक़त की ज़रूरत होती है। विज्ञान के अनुसार ये धारणाएं ग़लत हैं?
- क्या हरेक व्यक्ति अपने अनुभव से वैज्ञानिक ज्ञान का निर्माण करता है? यहां होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम और एनसीएफ में एक स्पष्ट विभाजन करने की ज़रूरत है। एनसीएफ –2005 बच्चों के दैनिक अनुभवों से ज्ञान के निर्माण की बात करता है। जबकि होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम बच्चों ने प्रयोग करके जो अनुभव प्राप्त किए हैं, उन अनुभवों को ज्ञान का आधार बनाता है। एनसीएफ–2005 ज्ञान के हस्तांतरण को लेकर चुप्पी साधे हुए हैं। क्योंकि वह उसे व्यवहारवादी विधि के समकक्ष मानता है। जबकि दूसरी ओर होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम ज्ञान के स्थानान्तरण को लेकर ढुलमुल नीति अपनाता है। हालांकि इसकी आवश्यकताओं को कुछ हद तक स्वीकारा भी है।

क्या ज्ञान केवल करने जैसी कोई चीज़ है? अगर हां तो फिर क्या इसका स्थानांतरण ज़रूरी नहीं है? मैथ्यूज़ के अनुसार– "समाज में जो कुछ जान लिया गया है उसको जानने के लिए व्यक्ति उसकी फिर से रचना नहीं करता।'' किसी के द्वारा जो एक बार जान लिया गया है उसकी वह दोबारा रचना नहीं की जाती। जैसा कि कार्ल पोपर ने संक्षेप में उल्लेख किया है, "व्यक्ति के लिए जो प्रमुख है, वह मानव समाज के लिए गौण है।"

इसलिए हमें ज्ञान के मीमांसात्मक सिद्धांत पर दार्शनिक बहस के लिए ज्ञान के हस्तांतरण और उसकी गहराई को लेकर चुप्पी को तोड़ने के साथ उसके दायरे को भी सुनिश्चित करना होगा।

- ज्ञान निर्माण के इस प्रमाणीकृत और सुनिश्चित सिद्धांत के सामने क्या ये सारे जवाब सही जवाब हैं? या उन सिद्धांतों तक कैसे पहुंचा गया है? क्या विज्ञान ने केवल प्रयोगों के ज़रिए ही विकास किया है? क्या प्रयोग व अवलोकनों और अवलोकनों के आधार पर किए गए सामान्यीकरण से सिद्धान्त बनते हैं या फिर सिद्धान्त प्रयोग और अवलोकन के पहले आते हैं
- बिना प्रयोगों के ज्ञानेंद्रीय अनुभवों का ज्ञान क्या उपदेशवादी या व्यवहारवादी होता है?
- कम से कम विज्ञान शिक्षण के संदर्भ में, किसी अवधारणा के साथ जुड़कर उस अवधारणा का निर्माण करना और समझ बनाना भी क्या ज्ञान का हस्तांतरण है?
- विज्ञान शिक्षा में दर्शनशास्त्र और विज्ञान के इतिहास की क्या भूमिका है? इन संदर्भों में विज्ञान की दुनिया में हुए प्रमुख पद्धति परिवर्तन को समझने की क्या कोई ज़रूरत है? किसी सामान्य पाठ्यपुस्तक पर कोपरनिकस के विवाद पर चर्चा करते हुए फ्रैंक कहते हैं कि वास्तव में इंद्रीय ज्ञान हमें केवल अवलोकन करते हुए दिखाता है कि सूर्य और क्षितिज के बीच की दूरी बढ़ रही है। लेकिन हमको यह नहीं बताता कि सूर्य चढ़ रहा है या क्षितिज उतर रहा है। और तो और शुरुआत की इस बुनियादी भूल से एक औसत पाठ्यपुस्तक रोमन चर्च और कोपरनिकस के बीच उस ऐतिहासिक लड़ाई की ठीक ढंग से तस्वीर भी छात्रों को उपलब्ध नहीं कराती। पाठ्यपुस्तकें विद्यार्थियों को उन मिसालों में बदलाव के बारे में नहीं बतलाती जो विवादित रहे हैं या कि कैसे विरोध में रहे जाने–माने विचारक जैसे कि फ्रांसिस बैकन (फॉदर ऑफ ब्रिटिश इंपेरिकल फिलॉसफी) जिन्होंने कोपरनिकस प्रणाली को नकारा। दरअसल कोपरनिकस को सहज बुद्धि के आधार पर रचे गए ज्ञान को तोड़ने का दोषी करार दिया गया था।
- विज्ञान में ख़ासतौर पर भौतिकशास्त्र में आदर्शवादी और वैचारिक प्रयोग की क्या भूमिका है? भ्रामक और वैकल्पिक धारणाएं क्या हैं? सिद्धांत कैसे बनते हैं? प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों से हम क्यों किसी सही जवाब तक नहीं पहुंच सकते? क्या शून्य घर्षण, शून्य प्रतिरोध आदि को प्रयोगों के माध्यम से समझा जा सकता है? या ये केवल आदर्शवादी परिस्थितियां हैं? इस बारे में जब शुद्ध वैज्ञानिक क्रांति की प्रकृति की बातचीत की जाती है तो मिट्टलस्ट्रेस कहते हैं, "यह एक क्रांति थी जो गंभीर अवलोकनों के बनिस्बत आदर्शवाद, गणितीय विश्लेषण और सैद्धांतिक रूप से पहले से किए प्रयोगों पर अधिक निर्भर थी।'' स्केकर के अनुसार– "गैलीलियोवाद और न्यूटनवाद आधारित भौतिकी ने प्रत्यक्ष ज्ञानेंद्रीय अनुभव के बंधनों से विज्ञान के चिंतन को मुक्त कर दिया।''

इससे भी गहरे स्तर पर, सामान्य विज्ञान और होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में प्रयोग आधारित खोज विधि का विकल्प अभी भी एक अधूरे आयामों के रूप में उभरी है, जिसका हल अभी बाक़ी है। कठिनाई इस बात की है कि जब विज्ञान शिक्षण में ज्ञान के निर्माण के ऐतिहासिक और दार्शनिक पहलुओं के बजाय प्रयोागें को ही आधार बनाया जाता है तो वैज्ञानिक पद्धति और विज्ञान की गहरी समझ में अड़चनें आती हैं। दूसरे स्तर पर शायद, ग़लती से या अनजाने में मगर प्रयोग आधारित विधि, शिक्षाशास्त्रियों के ज्ञानमीमांसीय दावों को सफल शिक्षणशास्त्रीय पद्धतियों के संदर्भ में भ्रमित करके समस्यामूलक ज्ञानमिमांसीय समस्याओं की ओर धकेल देती है।

उपसंहार

यह तो स्वीकार करना ही होगा कि विज्ञान शिक्षक की दिलचस्पी इस बात में होती है कि उसे निर्माणवाद के सिद्धांतों को खोजकर वैज्ञानिक ज्ञान की अवधारणाओं का शिक्षण करना होता है जिसकी उन अवधारणाओं का अधिकांश हिस्सा अमूर्त हो, जिसमें प्रयोग नहीं हो, जिसका पूर्व अवधारणा से कोई लेना–देना नहीं हो, जिसका सहज बुद्धि से लेना–देना नहीं हो और इतना ही नहीं जिसका रोजमर्रा के

अनुभवों और विचारों से विरोध हो, ऐसी अमूर्त अवधारणओं का हल बच्चों को छोटी उम्र से ही करना होता है। इन अवधारणाओं की जड़ें भाषा शिक्षण, राजनैतिक और सामाजिक कसौटियों में धंसी होती है और उन्हें बच्चों को पढ़ना होता है। इस मामले में नोला ने कहा है; –'

'बच्चों को वैज्ञानिक बनाने में और विज्ञान को सक्रिय रूप से करके सीखने में व्यस्त रखने से भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। शिक्षण शास्त्रीय रूप से करके सीखना, कुछ विद्यार्थियों को सीखने, विज्ञान की कुछ अवधारणाओं के विकास को समझने में उपयोगी साबित होगी। अगर कथित रूप से ''वैज्ञानिक'' और ''वैज्ञानिक ज्ञान का निर्माण'', ''निर्माणवादी तरीके से सीखना'' या शिक्षक का ''निर्माणवादी तरीके से शिक्षण'' को लेकर खासा भ्रम पैदा हो सकता है। होशंगावाद विज्ञान का प्रमुख जोर प्रयोग आधारित विधि पर रहा है जिसे सीखने की एक सक्षम विधि कहा गया है। विज्ञान में प्रयोग आधारित विधि ज्ञान के निर्माण को लेकर पनपे विभिन्न विवादों और उसके प्रमुख दर्शन की छानबीन में असफल रही है।

क्या ऐसा इसलिए तो नहीं कि 1970 के दशक की शुरूआत में (और आज भी) बिना कुछ किए और बहुत ही ज्यादा उपदेशों का ढोल पीटते हुए स्कूलों में निरर्थक ढंग से शिक्षा दी जाती रही? या कहीं एक व्यावहारिक मसले से ज्यादा गहरे जिसमें विज्ञान के दर्शन को अमल में लाने की बुनियादी हिचक का मामला तो नहीं? या कि उस दौरान क्या विज्ञान में खासकर भौतिकी में दर्शन को तवज्जौह न दिए जाने का कारण उस विषय के दार्शनिक पक्षों के नियम, तथ्य, मान्यताओं, स्पष्टीकरण, प्रमाण आदि को नहीं समझा जा सकता? आजकल रटंत विद्या को हटाने के लिए निर्देशों को आधार बनाकर खोज और प्रयोग आधारित विधि एक प्रकार से मंत्रबाजी बन चुकी है। एक तरह से यह सीमा निर्धारित कर ली गई कि विज्ञान के पाठ्यक्रम और कार्यपुस्तकों में हम दर्शन और करके सीखों में से क्या शामिल करेंगे और क्या नहीं। इसमें अवधारणाओं के क्रम क्या होंगे, या संज्ञान और सीखने के सिद्धांत की समझ क्या होगी, जैसे मामलों को शामिल नहीं किया जाता।

दूसरी तरफ एन.सी.एफ. 2005 ने स्कूली विज्ञान शिक्षण के बुनियादी मसलों को हल करने के बजाय पीछे की ओर कदम धरे हैं जिसमें इस बात पर जोर है कि बच्चे स्वयं के अनुभवों से विज्ञान सीखें और शिक्षक की भूमिका एक सहयोगी की हो। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा के मसलों को एन.सी.एफ. ने पीछे की ओर धकेला है।

साभार : कंटेम्प्रेरी, एज्यूकेशन डॉयलॉग से। साधना सक्सेना– दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में पढ़ाती हैं। **अनुवाद :** के.आर. शर्मा, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर।

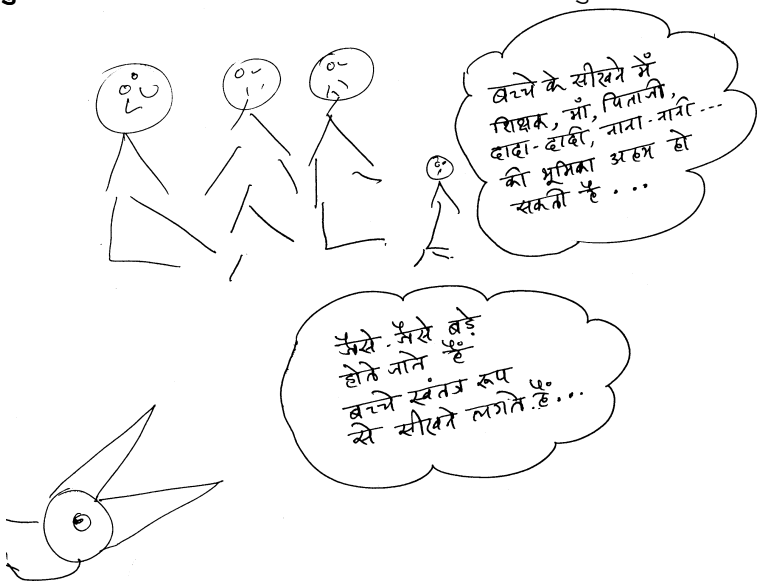

कैसे पढ़ाएं भौतिकशास्त्र?

विजय एस. वर्मा

बीसवीं सदी के मध्य तक शिक्षा में, पूरब और पश्चिम दोनों तरफ़, व्यवहारवाद का बोलबाला था। जब मैं स्कूल पूरा कर रहा था, लगभग उसी समय ऐसा कुछ हुआ जिसका असर दुनियाभर में विज्ञान शिक्षा पर हुआ। यह कुछ था 1950 के मध्य दशक में सोवियत संघ द्वारा स्पूतनिक छोड़ा जाना। ज़ाहिर है इस मानव निर्मित वस्तु को पृथ्वी के चक्कर लगाते, बीप-बीप-बीप करते देखना रोमांचक था, मगर इसने किया यह कि जिस ढंग से विज्ञान व टेक्नॉलॉजी पढ़ाए जाते थे उसे लेकर एक असुरक्षा का भाव पैदा किया और एक चुनौती पेश कर दी। इस ज़बर्दस्त प्रगति, जो उपग्रह के प्रक्षेपण के रूप में साकार हुई थी, की वजह से पश्चिमी देशों ने सोवियत संघ से एक ख़तरा महसूस किया। इसके परिणामस्वरूप, और मेरे ख़्याल में, इसके प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में 1960 के दशक में कई सारे स्कूली विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू हुए जिन्होंने एक मायने में स्कूल में विज्ञान पढ़ाने के तौर-तरीक़ों में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। मैं ख़ास तौर से हार्वर्ड प्रोजेक्ट फिज़िक्स, दी स्कॉटिश स्कूल प्रोग्राम और इंग्लैण्ड में नफील्ड प्रोजेक्ट का ज़िक्र करूंगा। ये कार्यक्रम एक-दूसरे से काफ़ी अलग थे मगर इन सबमें एक साझा बात यह थी कि ज़ोर तथ्यों और आंकड़ों पर महारत हासिल करने की बजाय विषय की संरचना सीखने-सिखाने पर था। ज़ोर विज्ञान के परिणामों की बजाय विज्ञान की प्रक्रिया पर था और एक प्रयास था कि मात्र तोतारटंत की बजाय खोजबीन और प्रयोगों की ओर क़दम बढ़ाए जाएं। कक्षा में प्रवचननुमा विमर्श पर ज़ोर कम किया गया और लोगों को, कम से कम छात्रों को खोज व अन्वेषण की धारणा विकसित करने को प्रेरित किया गया।

हमारे देश में पारंपरिक रूप से, और अक्सर आजकल भी, विज्ञान को मूलतः 'गृहीत ज्ञान' के रूप में सीखा जाता है, तथ्यों के एक ऐसे पुलिंदे के रूप में सीखा जाता है, जिसे लंबे समय में विकसित किया गया है और जिसमें कोई प्रश्न, कम से कम कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न, अनुत्तरित नहीं है। पाठ्यक्रम की प्रकृति, जिस ढंग से उसे कक्षा में पढ़ाया जाता है, और जिस ढंग की परीक्षा प्रणाली है, इन सबका मिला-जुला नतीजा यही होता है। पारंपरिक ढांचे में प्रयोग, खोजबीन या चर्चा की कोई जगह नहीं है क्योंकि इन्हें फ़ालतू की मशक़्क़त माना जाता है, जो कक्षा में पाठ्यक्रम के कार्यक्रम संचालन में बाधा पहुंचाते हैं।

दूसरी ओर, साठ के दशक में विकसित पाठ्यक्रमों में उस चीज़ की झलक थी जिसे निर्माणवादी पैराडाइम कहा जा रहा है, और इस निर्माणवादी नज़रिए के मूल में यह विश्वास था कि व्यक्तियों की अपनी संकल्पनाएं उनकी समझ को निर्देशित करती हैं। इस पैराडाइम के मुताबिक़ बाह्य विश्व का ज्ञान एक मानव निर्मिति है। इसे 'प्रकृति की किताब' से सीधे नहीं पढ़ा जा सकता। हर सीखनेवाले को अवधारणाओं का एक पुंज निर्मित करने का प्रयास करना पड़ता है, जिसके ज़रिए वह बाह्य विश्व को देखता है। ज़ाहिर है एक यथार्थ है चूंकि वह हमें दिखता है, शायद कई परतोंवाला यथार्थ है, प्रकट रूप जिसकी सबसे बाहरी परत है। वैज्ञानिक अपने यंत्रों और प्रयोगों से इस यथार्थ की तहक़ीक़ात करने का प्रयास करते हैं, और फिर यह अनुमान करने का प्रयास करते हैं कि यथार्थ वास्तव में कैसा है। मॉडल निर्माण या सिद्धांत निर्माण के ये प्रयास तब तक आज़माइशी रहते हैं जब तक कि यह न दर्शा दिया जाए कि उनमें पूर्वानुमान की क्षमता है और इसके बाद भी यह संभावना बनी रहती है कि आगे किए जानेवाले प्रयोग वाकई उन्हें ग़लत साबित कर देंगे। किसी मॉडल द्वारा की गई भविष्यवाणी और वास्तविक अवलोकन से उसकी

निकटता किसी भी सिद्धांत के अच्छे होने का पैमाना है। जब सिद्धांत द्वारा किए गए पूर्वानुमान और प्रयोगों द्वारा किए गए अवलोकनों के बीच अंतर बहुत अधिक हो जाता है, तो लोग सोचने लगते हैं कि नए प्रयोगों या प्रयोगों से प्राप्त परिणामों के मद्दे नज़र सिद्धांत में संशोधन का वक़्त आ गया है। लिहाज़ा, वैज्ञानिक व्याख्या सीखते वक़्त हमें उसकी प्रयुक्ति के दायरे और उसकी उपयोगिता की सीमाओं दोनों को समझना होगा। अलबत्ता, यथार्थ की वास्तविक संरचना सदा एक रहस्य बनी रहेगी। हमारे पास सिर्फ़ यथार्थ के सन्निकटन हैं, यथार्थ के सिद्धांत हैं। और जिस तरह से स्वयं यथार्थ एक रहस्य बना रहता है उसी तरह यथार्थ के विवरण के रूप में गणितीय मॉडल्स की सफलता भी एक रहस्य बनी रहती है, जैसी कि सबसे पहले आइंस्टाइन ने टिप्पणी की थी।

निर्माणवादी कार्यक्रम का असर भारतीय शिक्षा पर भी हुआ था और मुझे याद है कि 1967 में ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन ने एक प्रोजेक्ट उठाया था जिसे वास्तव में एनसीईआरटी का वित्तीय सहयोग मिला था। यह तीन साल चला था और मुख्यतः पब्लिक स्कूलों - दून, नाभा, अजमेर - में चला था। प्रोजेक्ट में नफील्ड कार्यक्रम को भारतीय परिस्थिति व हालात के अनुरूप ढालने की कोशिश की गई थी। बाद में यह एक कार्यक्रम की प्रेरणा बना जो बंबई के नगरपालिका स्कूलों में तीन साल चला और फिर 1970 के दशक के शुरू में होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की प्रेरणा बना, वह भी शुरुआती अवस्था में नफील्ड कार्यक्रम से काफ़ी प्रभावित रहा। जिन तीन प्रोजेक्ट का मैंने ज़िक्र किया है, उनमें से पहला कार्यक्रम तो दो साल में ही बंद हो गया था हालांकि उसकी सामग्री तीन-वर्षीय कार्यक्रम के लिए बनाई गई थी। इसके बंद होने का एक कारण तो यह था कि एनसीईआरटी ने फंडिंग रोकने की होशियारी दिखाई और दूसरा कारण यह था कि जिन पब्लिक स्कूलों में यह कार्यक्रम चलाया जा रहा था, वे तो वैसे भी ख़ास उत्सुक नहीं थे। उनके पास नफील्ड कार्यक्रम के लिए बनाई गई सारी सामग्री व उपकरण वग़ैरह उपलब्ध थे और इस तरह के भारतीयकरण में उनकी खास रुचि नहीं थी। बंबई स्कूलों का कार्यक्रम भी करीब तीन साल चला था और वहां इसके अवसान का कारण थोड़ा अलग था।

शिक्षकों ने इस निर्माणवादी ढंग से दो साल तक ख़ुशी-ख़ुशी पढ़ाया और फिर तीसरे साल के शुरू में कक्षा 8 के शिक्षकों को बताया गया कि उनके बच्चों को नगर निगम बोर्ड की रूढ़िगत परीक्षा में बैठना होगा। ज़ाहिर है, शिक्षकों के बीच हड़कंप मच गया और उन्होंने कहा, "हमारी नौकरी का सवाल है, इसलिए नमस्कार। पढ़ाने के लिए ये सब चीज़ें तो बहुत बढ़िया हैं मगर अब मुझे सामान्य पाठ्यक्रम के हिसाब से पढ़ाना होगा।" लिहाज़ा वे अपने ढर्रे पर लौट गए और कार्यक्रम धराशायी हो गया। होशंगाबाद कार्यक्रम, जो 1972 में शुरू हुआ था, कहीं अधिक लंबे समय तक चला मगर इसे भी 2 साल पहले एक प्रशासनिक फतवे द्वारा बंद कर दिया गया। तमाम विरोध और कार्यक्रम की उपयोगिता या कार्यक्षमता को लेकर तमाम दलीलों का सरकार के निर्णय पर रत्तीभर असर नहीं हुआ। तो संक्षेप में यह था वह ऐतिहासिक संदर्भ जिसके तहत मैं अपनी बात रखूंगा। मैं करूंगा यह कि आपको इस कार्यक्रम को लेकर हुई कुछ प्रतिक्रियाएं बताऊंगा और यह बताऊंगा कि लोगों ने जब इस तरीक़े से भौतिकी पढ़ाने की कोशिश की तो किस ढंग के नए विकास सामने आए।

हुआ यह कि समय के साथ पश्चिम में इस तरह के कार्यक्रम पर आधारित पाठ्यक्रम की गहरी छानबीन होने लगी और आलोचना होने लगी। इसका कारण था कि यह समझ में आने लगा था कि साठ के दशक में रचे गए पाठ्यक्रम विज्ञान शिक्षा का स्तर, ख़ास तौर से सीखने की उपलब्धियों के संदर्भ में, सुधारने में अपेक्षा से कम सफल रहे थे। लोगों ने खोजबीन शुरू की कि ऐसा क्यों है। और इसके बाद किए गए अध्ययनों से पता चला कि विज्ञान पाठ्यक्रम के कई हिस्सों में छात्रों ने जो सीखा है वह वैज्ञानिकों द्वारा सही मानी जानेवाली अवधारणाओं से काफ़ी अलग था। मतलब औपचारिक शिक्षा के बाद भी छात्र लगातार ग़लत धारणाओं से चिपके हुए थे, जिन्हें

आजकल यथार्थ की वैकल्पिक संकल्पनाएं कहा जाता है और जो उन अवधारणाओं से काफ़ी अलग होती हैं जिन्हें वैज्ञानिक मानते हैं और पाठ्यक्रम निर्माताओं की अपेक्षा थी कि शिक्षा के बाद छात्र भी मानेंगे। अचरज की बात यह थी कि ये इक्का-दुक्का छात्रों की ग़लत संकल्पनाएं नहीं थीं, ये ऐसी ग़लत संकल्पनाएं थीं जो लगभग सार्वभौमिक प्रकृति की थीं और काफी दृढ़ता से जड़ें जमाए लगती थीं। ये सहजबोध पर आधारित हैं और इन्हें बदलना बहुत मुश्किल होता है। इस समय हमें भी इस परिघटना को समझने में रुचि पैदा हुई और हमने स्कूली छात्रों, स्नातक छात्रों, स्नातकोत्तर छात्रों और चोरी-छिपे हमारे अपने विभाग के कुछ फैकल्टी सदस्यों का भी एक अध्ययन किया। यह हैरत की बात थी कि ये ग़लत संकल्पनाएं कितनी व्यापक और कितनी आम हैं।

यहां मैं आपको दो उदाहरण देना चाहूंगा कि ग़लत संकल्पनाओं से मतलब क्या है ताकि आप देख सकें कि मैं क्या कहने की कोशिश कर रहा हूं। अचरज की बात सिर्फ़ यह नहीं थी कि ये ग़लत संकल्पनाएं औपचारिक शिक्षा के बावजूद बनी रहती हैं। अचरज की बात यह भी थी कि ये सहजबोध आधारित थीं और चूंकि ये सहजबोध आधारित थीं इसलिए इन्हें उखाड़ना बहुत मुश्किल था। कई बार यह देखा गया कि औपचारिक शिक्षा के बाद छात्र कभी-कभी सही सिद्धांत अर्जित तो कर लेते हैं, मगर अपने दिमाग़ में सहजबोध आधारित नज़रिया और सही सिद्धांत दोनों रखते हैं, और सवालों के जो जवाब वे देते हैं वे सहजबोध या औपचारिक सिद्धांत में से किसी पर भी आधारित हो सकते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सवाल किस ढंग से पूछा गया है। अगले पांच मिनट मैं आपसे इसी के बारे में बात करूंगा।

निम्न समस्या पर ग़ौर कीजिए : एक अंतरिक्ष यान एकरूप वेग से सुदूर अंतरिक्ष में आगे बढ़ रहा है। समय $t = 0$ पर यह एक रॉकेट छोड़ता है जिसकी दिशा इसकी गति के लंबवत् है। इसके परिणामस्वरूप यान में एक एकरूप त्वरण पैदा हो जाता है।
छात्रों से यान की ट्रेजेक्टरी (प्रक्षेप पथ) बताने को कहा गया। मान लीजिए यह सरल रेखा दर्शाती है कि यान एक एकरूप वेग से चल रहा है और उसके इंजिन लंबवत् दिशा में हैं। समय $t = 0$ पर जब यान इस बिंदु पर पहुंचता है, तो वह अपना पहला इंजिन चालू करता है और इसके कारण उसमें नीचे की दिशा में एक एकरूप त्वरण पैदा होता है। और यदि आप छात्रों से पूछें कि "क्या अब तुम इस यान का मार्ग दर्शा सकते हो?", तो वे हमेशा कहते हैं कि यह एक स्थिर त्वरण 'a' से इस दिशा में जाएगा और इसी दिशा में आगे बढ़ता रहेगा (चित्र 1)। अब एक मायने में यह काफ़ी हद तक 'रोड-रनर' प्रभाव की तरह है। जिन लोगों ने बचपन में कॉमिक्स पढ़े हैं या कार्टून फ़िल्में देखी हैं, उन्हें याद होगा कि उनमें एक रोड रनर होता है जो किसी चीज़ का पीछा कर रहा है या किसी से बचकर भाग रहा है और वह किसी कगार पर पहुंच जाता है। मान लीजिए कि यह है कगार और मान लीजिए कि यह रोड रनर है और रोड रनर झपट्टे से आता है और कगार के आगे निकल जाता है और फिर थोड़े समय बाद एक पत्थर की तरह गिरने लगता है (चित्र 2)। यह काफी प्रचलित मत है जो गति के सम्बंध में सहज बुद्धि का नज़रिया भी है।
दूसरी ओर, मान लीजिए कि यही समस्या ऐसे छात्रों के सामने रखी जाती है जिन्होंने मेकेनिक्स की शिक्षा ग्रहण की है मगर मैं उन्हें यह नहीं कहता कि 'कक्षा (ऑर्बिट) का चित्र बनाओ'। इसकी बजाय यदि मैं उनसे यह कहूं कि "गति की समीकरणें लिखो और इस रॉकेट की ट्रेजेक्टरी पता करो", तो जिन छात्रों ने रोड रनर चित्रवाला उत्तर दिया था, उनमें से कम से कम होशियार छात्र कहेंगे, "क्ष-अक्ष इस दिशा में बनाएंगे और य-अक्ष इस दिशा में बनाएंगे।" समय $t = 0$ के बाद क्ष अक्ष की दिशा में तय की गई दूरी होगी $x = vt$, जहां v क्ष दिशा में यान का वेग है। ज़ाहिर है कि य दिशा में गति का कोई घटक नहीं है, तो यह एक विशुद्ध त्वरण का मामला है और य दिशा में तय की गई दूरी $y = (1/2)at^2$ होगी, जहां a त्वरण है। मैं इन दोनों समीकरणों को जोड़कर

प्राप्त कर सकता

हूं। गणित या भौतिकी का हर छात्र जानता है कि यह परवलय (पैराबोला) का समीकरण है। छात्र यह वक्र रेखा खींचकर आपको बता देंगे कि मार्ग परवलय होगा (चित्र 3)। जो आश्चर्यजनक चीज़ में आपको बताना चाहता हूं वह यह है कि या तो ये छात्र आपको यह दूसरावाला उत्तर देंगे जो सही उत्तर है, वैज्ञानिक रूप से मान्य उत्तर है, या पहलेवाला उत्तर देंगे और उनका उत्तर इस बात पर निर्भर होगा कि आप प्रश्न किस ढंग से रखते हैं। तो ज़ाहिर है कि मामला यह नहीं है कि छात्र समझे नहीं हैं। वह एक अलग समस्या है। जो छात्र समझ चुके हैं, उनमें क्यों यह द्वन्द्व है? माजरा क्या है? प्रश्न किस तरह से पूछा गया, इसके आधार पर आपको यहवाला उत्तर मिलता है या वहवाला उत्तर मिलता है और यह बात विज्ञान शिक्षा के निर्माणवादी सिद्धांत की छानबीन के दौरान सामने आई।

बस एक उदाहरण और दूंगा और उसके बाद ढर्रे पर लौट आऊंगा। यह भी एक ऐसी चीज़ है जिसे कई लोगों ने आज़माया है। मैं एक गेंद लेकर उसे हवा में उछालता हूं। शिक्षण के बाद छात्रों को पता होता है कि इसका मार्ग परवलय होता है तो मैं एक परवलय बना देता हूं और इस पर तीन-तीन अलग-अलग स्थितियों में गेंद बना देता हूं (चित्र 4)। और मैं सवाल यह पूछता हूं: "गेंद इस दिशा में चल रही है। आप बताइए कि इन तीनों स्थितियों में गेंद पर कौन-कौन-से बल लग रहे हैं और उन बलों की दिशा क्या है?" छात्र हर बार यही कहते हैं, "गेंद इस दिशा में चल रही है, तो बल भी उसी दिशा में होना चाहिए। परावलय के शीर्ष पर गेंद लगभग गतिहीन है, तो वहां उस पर कोई बल नहीं लग रहा है। तीसरी स्थिति में बल उसी दिशा में लग रहा है जिधर गेंद जा रही है।" अब मैं पूछता हूं, "ज़रा देखो कि वह क्या चीज़ है जो बदली है? मतलब इस स्थिति (जब गेंद ऊपर जा रही है) से इस स्थिति में (जब गेंद नीचे जा रही है), उस पर कौन-सा बल लग रहा है?" और वे स्वीकार करते हैं कि गेंद पर जो एकमात्र बल लग रहा है, वह गुरुत्वाकर्षण का बल है और गुरुत्वाकर्षण का बल हमेशा नीचे की ओर लगता है और यदि आप प्रश्न को इस रूप में पूछें तो वे सदा यही उत्तर देंगे। मगर यदि आप ऐसा दर्शाएं कि आप एक चलताऊ सवाल पूछ रहे हैं, तो आपको यह जबाव मिलेगा कि बल की दिशा वही होनी चाहिए जो गति की दिशा है।

इस द्वन्द्व का कारण यह है कि छात्रों में भौतिकी की एक सहज समझ है जो औपचारिक शिक्षा से नहीं बनी

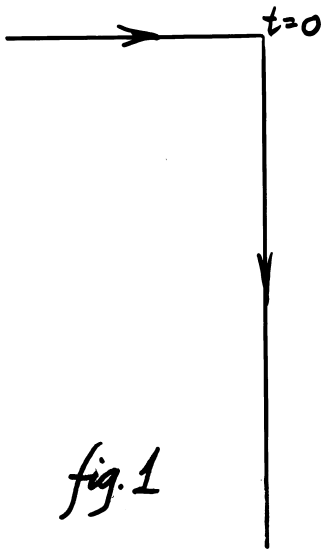

fig.1

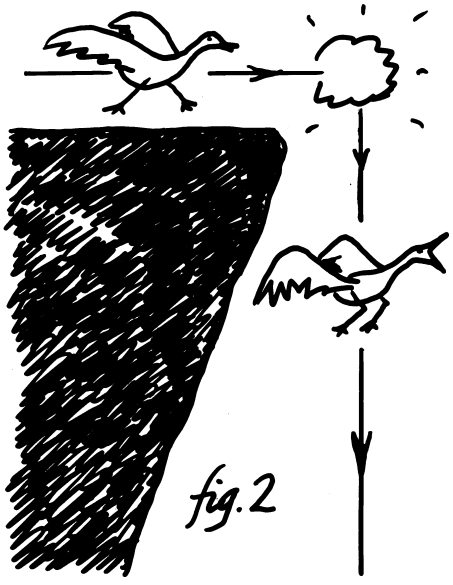
fig.2

है बल्कि स्कूल आने से पहले अपने जीवन में बाहरी दुनिया का अर्थ समझने के प्रयास में बनी है। और

मेरे ख़्याल में इस बात को बहुत सावधानीपूर्वक स्वीकार करने की ज़रूरत है कि छात्र कक्षा में खाली दिमाग़ लेकर नहीं आते। डील-डौल में छोटे ही सही मगर वे इन्सान हैं जिन्होंने अपने आसपास की भौतिक परिघटनाओं का अर्थ समझने के प्रयास में अपनी एक विश्व दृष्टि विकसित करने का प्रयास किया है। कई बार यह देखना दिलचस्प होता है कि ये मत भौतिकी में अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास को प्रतिबिंबित करते हैं। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूं क्योंकि ये दोनों ही उत्तर गति के बारे में अरस्तूवादी विचारों से मेल

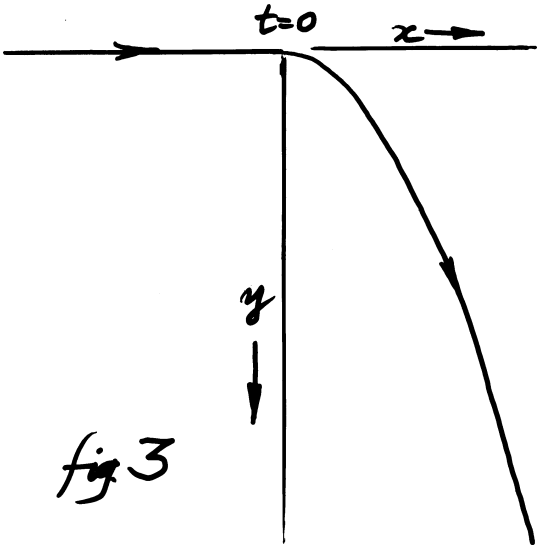

fig 3

खाते हैं जिसमें वस्तु तब तक गतिहीन रहती है जब तक उस पर कोई बल न लगाया जाए। और बल की दिशा का पता गति की दिशा से चलता है। अर्थात् यदि कोई चीज़ गति में है तो इससे पता चलता है कि उस

पर गति की दिशा में बल लग रहा है। मैं इस बात पर फिर लौटूंगा। मगर यह एक ऐसी चीज़ है जिसे बच्चों ने सहज बुद्धि से निर्मित किया है और मेरे ख़्याल में अरस्तू ने भी इसी कारण से यह सुझाया होगा। यदि आप किसी गेंद को फ़र्श पर लुढ़काने की कोशिश करें, तो आपको उसे पहले एक धक्का देना होगा और धक्का सिद्धांत कहता है कि गेंद तब तक लुढ़कती रहती है जब तक धक्का उस पर क्रिया करता रहता है। अलबत्ता यह धक्का गेंद को लुढ़काने में ख़र्च होता रहता है और एक समय ऐसा आता है जब धक्का शून्य हो

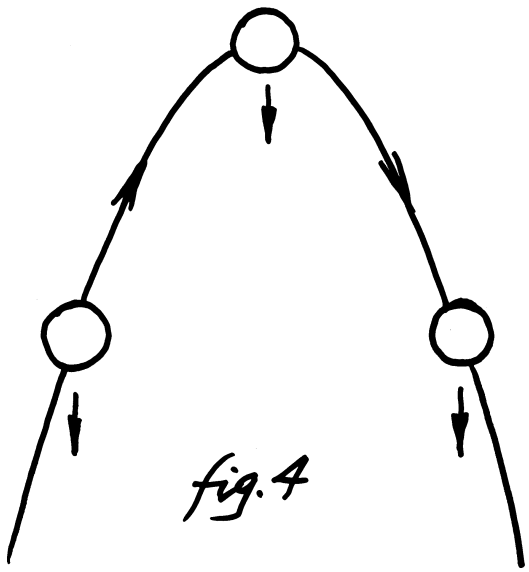
fig.4

जाता है और यह वह बिंदु होता है जब गेंद रुक जाती है। मैं यह चर्चा बाद में करूंगा कि इस विचार में क्या ग़लती है और इस परिघटना की सही व्याख्या क्या है। मगर मैं और आप देखते यही हैं, बच्चे भी यही देखते हैं कि गेंद को लुढ़काने

के लिए कुछ बल लगाना पड़ता है और कुछ समय बाद गेंद रुक जाती है। लिहाज़ा गति बल की क्रिया की दिशा की सूचक है। इसलिए यदि यहां गेंद इस दिशा में चल रही है और यहां गेंद गतिहीन है तो यहां उस पर इस दिशा में बल लग रहा होगा और जब वह गतिहीन है तब उस पर कोई बल नहीं लग रहा है और इसी प्रकार से जब वह नीचे की ओर गति कर रही है तो बल नीचे की दिशा में होना चाहिए। इसी प्रकार से दूसरे उदाहरण में, रोड रनर पर शुरू में एक निश्चित धक्का लगा था जो ख़र्च होता रहता है, और जब वह ख़र्च हो जाता है, तो गुरुत्व बल हावी हो जाता है और गति सीधे नीचे की ओर होती है।

पिछले तीस वर्ष इस क्षेत्र में काफ़ी शोध के गवाह रहे हैं। और अब मैं एक ट्रांसपरेंसी दिखा रहा हूं, उम्मीद है कि आप इसे पढ़ पाएंगे। वैसे, मैं इसे पढ़कर सुना भी दूंगा। यहां सात कथन दिए गए हैं, ये सही हो सकते हैं या ग़लत हो सकते हैं। मैं इस वक़्त आपको पूर्वाग्रह से ग्रस्त करना नहीं चाहता। मैं करूंगा यह कि एक-एक करके इन कथनों को पढ़ूंगा और फिर मतदान करवाऊंगा कि आपमें से कितने लोग इन्हें सही मानते हैं। उसके बाद हम चर्चा करेंगे। कथन ये हैं:

1. पौधों का डील-डौल जड़ों के ज़रिए मिट्टी से लिए गए भोजन से बनता है।
2. दहन की प्रक्रिया में पदार्थ नष्ट होता है।
3. सूरज और तारे पूर्व में उदय होते हैं।
4. गर्मी का मौसम तब होता है जब धरती सूरज के निकटतम होती है।
5. बल्ब जलाने में विद्युत धारा ख़र्च हो जाती है।
6. सरल रेखा में एकरूप गति को बनाए रखने के लिए बल लगना ज़रूरी है।
7. भारी चीज़ें हल्की चीज़ों की अपेक्षा तेज़ी से गिरती हैं।

ये सात कथन हैं और अब मैं आपको

दो मिनट दूंगा कि आप सोचकर बताएं इनमें से कितने कथन आपको सही लगते हैं और कितने ग़लत लगते हैं। अब मैं मतदान करवाऊंगा।

मतदान के बाद मुझे पता चलता है कि किसी को भी सातों कथन सही नहीं लगते। सच्चाई यह है कि इनमें से एक भी कथन सही नहीं है।
चलिए तीसरे कथन से शुरू करते हैं, "सूरज और तारे पूर्व में उदय होते हैं"। यह तो साफ़ तौर पर सही नहीं है। यह समझने के लिए कि यह सही नहीं है, आपको यह देखना होगा कि सूरज कहां से उदय होता है और यह ध्यान देना होगा कि इसमें पूरे 45 डिग्री का अंतर आता है, एक वर्ष की अवधि में यह किसी एक कटिबंध पर ऐन सिर के ऊपर होता है फिर दूसरे कटिबंध तक जाता है। इसके अलावा ध्रुव तारा कभी उगता-डूबता नहीं है। जब सूर्यास्त के बाद रोशनी कम होती है तो यह दिखने लगता है, और सूर्योदय के बाद रोशनी बढ़ जाने पर यह गुम हो जाता है, ध्रुव तारा अपनी जगह स्थिर रहता है। फिर उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों पर सूरज छः महीनों तक उगता नहीं और छः महीनों तक डूबता नहीं। ज़ाहिर है, यह कथन सही नहीं है। "गर्मी का मौसम तब होता है जब धरती सूरज के निकटतम होती है।" मेरे ख़्याल में जो लोग इस कथन को सही मान रहे हैं वे इस आधार पर ऐसा सोच रहे हैं कि आप आग के जितने नज़दीक होते हैं, उतना ही गर्म महसूस होता है। इसलिए यह सोचना स्वाभाविक लगता है कि गर्मियां तब होती हैं जब धरती सूरज के निकटतम होती है। मगर यदि आप वास्तव में इसके बारे में सोचें, मेरा मतलब है कि आपके ऐसा कहने का मतलब यह होगा कि सूरज के इर्द-गिर्द पृथ्वी के परिक्रमा पथ की दीर्घवृत्ताकार आकृति ही मौसम परिवर्तन का कारण है। हमें पढ़ाया गया है कि सूरज के आसपास पृथ्वी ही नहीं, सौर मंडल के हर ग्रह का परिक्रमा पथ (कक्षा) दीर्घवृत्ताकार होता है। पाठ्यपुस्तक में दिए गए रेखाचित्र आपको इस कक्षा का थोड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र देते हैं और यह कोई नहीं बताता कि हालांकि सूरज के इर्द-गिर्द पृथ्वी की कक्षा दीर्घवृत्त है मगर यह विचलन वृत्त से 1 प्रतिशत से भी कम है। दरअसल जब पृथ्वी सूरज के सबसे नज़दीक होती है, यानी जब वह अनुसूर्यबिंदु (पेरिहेलियन) पर होती है, तब वास्तव में उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़े का मौसम होता है। यह कथन सही हो ही नहीं सकता क्योंकि यदि यह सही है, तो एक ही समय पर उत्तरी व दक्षिणी गोलार्द्ध दोनों जगह गर्मियां होंगी। और आप जानते ही हैं कि जब उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़ा होता है उस समय दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मियां होती हैं। इसलिए यह कथन सही नहीं हो सकता कि "गर्मियों में पृथ्वी सूरज के सबसे नज़दीक होती है"। मौसम की परिघटना की व्याख्या निकटता के आधार पर नहीं हो सकती। यह होता है सूरज की किरणों के सापेक्ष पृथ्वी की सतह के झुकाव में परिवर्तन के आधार पर। आपको बच्चों के साथ यह प्रयोग करना होगा कोई चीज़ या सतह लीजिए और उसे एक निश्चित समय के लिए सूरज से अलग-अलग झुकाव पर रखकर देखिए कि किस स्थिति में तापमान सबसे तेज़ी से बढ़ता है और यह साफ़ हो जाएगा कि दूरी में परिवर्तन की अपेक्षा झुकाव का असर इस बात पर बहुत अधिक पड़ता है कि वस्तु कितनी गर्म होती है।

"बल्ब जलाने में विद्युत धारा खर्च हो जाती है।" मुझे लगता है कि बच्चे यह धारणा ख़ास तौर से तब विकसित करते हैं जब वे बैटरी का इस्तेमाल करते हैं। टॉर्च जला-जलाकर बैटरी ख़र्च हो जाती है। उन्हें यही समझ में आता है मगर विद्युत धारा तो इलेक्ट्रॉनों का प्रवाह है, और इलेक्ट्रॉन कभी नष्ट नहीं होते। इसके कारण ही आवेश का संरक्षण होता है। तो यह साफ़ तौर पर सही नहीं है।

"सरल रेखा में एकरूप गति को बनाए रखने के लिए बल लगना ज़रूरी है।" इसकी बात मैं पहले ही कर चुका हूं। इस समस्या को गैलीलियो ने संबोधित किया था, वैसे इस बात पर विवाद है कि उन्होंने प्रयोग किया था या नहीं। मुझे लगता है कि उन्होंने प्रयोग किया होगा। उन्होंने किया यह कि - एक नत समतल लिया और उसके एक निश्चित बिंदु से गेंद को बार-बार लुढ़काया जिससे उन्हें पता चल गया कि प्रयोग के दौरान वे गेंद को एक-सी ऊर्जा दे रहे हैं। उन्होंने यह किया कि सबसे पहले एक खुरदरी सतह का उपयोग किया, फिर थोड़ी कम खुरदरी सतह ली और अंत में निहायत चिकनी सतह

ली, और उन्होंने देखा कि नत समतल से आगे बढ़ने के बाद गेंद उस सतह पर कितनी दूरी तय करती है, यह इस बात पर निर्भर है कि वह सतह कितनी खुरदरी है। तो फिर उन्होंने तर्क किया कि जैसे-जैसे सतह चिकनी होती जाती है, गेंद की गति पर लगनेवाला प्रतिरोध कम-कम होता जाता है और यह कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि यदि सतह पूर्णतः चिकनी हो, तो गेंद को एक बार गति देने पर वह सदा के लिए गति में बनी रहेगी। इस प्रकार से वे जड़त्व के बारे में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे। वस्तु की क़ुदरती अवस्था या तो विराम की होती है या एकरूप गति की होती है और गति की मौजूदगी आपको बल की मौजूदगी नहीं बताती, गति में परिवर्तन आपको बताता है कि वस्तु पर बल लग रहा है। यह बताने के लिए गैलीलियो की क्षमतावाला व्यक्ति इसलिए ज़रूरी था क्योंकि जब गेंद किसी सतह पर लुढ़क रही है और धीमी होती जा रही है, तब बहुत लोग यह नहीं पहचान पाएंगे कि एक गुप्त बल है जो गेंद पर लग रहा है और यह बल घर्षण है। चूंकि वे यह नहीं देख पाते कि गेंद पर एक गुप्त बल लग रहा है, उन्हें लगता है कि गेंद को गतिशील रखने के लिए आपको उसे धकेलते रहना पड़ता है। गेंद को एक धक्का देने और उस धक्के के ख़र्च हो जाने की अवधारणा यहां से उभरती है।

मुझे एक प्रयोग करने की इजाज़त दीजिए, मेरे पास कई प्रयोग तैयार हैं, मगर फ़िलहाल एक प्रयोग करते हैं। आप सब जानते हैं कि यह कथन सहजबोध के कितना नज़दीक है: "भारी चीज़ें हल्की चीज़ों की अपेक्षा तेज़ी से गिरती हैं।" मैं आपको एक प्रयोग दिखाना चाहता हूं जिसकी बात गैलीलियो ने की है। मुझे पता नहीं, उन्होंने सचमुच यह प्रयोग किया था या नहीं। यह एक मशहूर प्रयोग है जिसमें दावा किया जाता है कि उन्होंने एक तोप के गोले और एक छोटे पत्थर को पीसा की मीनार से एक साथ गिराया था और दिखाया था कि दोनों साथ-साथ गिरते हैं। मेरे ख्याल में उन्होंने इसकी बात अपनी किताब टू साइन्सेज़ में की है। उन्होंने अरस्तू के इस मत की आलोचना की थी कि भारी वस्तुएं हल्की वस्तुओं से अधिक तेज़ी से गिरती हैं। दिलचस्प बात यह है कि वे न सिर्फ़ आपको एक क़िस्म का सैद्धांतिक तर्क देते हैं कि क्यों यह ग़लत होना चाहिए, मगर यदि आप इसे ध्यानपूर्वक पढ़ें तो इसका आशय यह निकलता है, "मैं जो कह रहा हूं, वह भी पूरी तरह सही नहीं है, परम सत्य नहीं है, मगर अरस्तू के कथन में निहित त्रुटि की अपेक्षा मेरे कथन में निहित त्रुटि कहीं कम है। इसलिए मेरे स्थापना में शामिल छोटी सी ग़लती की वजह से आपको मेरे सिद्धांत को अरस्तू के सिद्धांत के समकक्ष रखने को प्रेरित नहीं होना चाहिए।" गैलीलियो भौतिक यथार्थ से निकटता की यह अवधारणा जोड़ रहे हैं। बेहतर विवरण वह है जो प्रायोगिक अवलोकन के अधिक निकट हो। यह ज़रूरी नहीं है कि यह सिद्धांत सही है या वह सिद्धांत सही है बल्कि सिद्धांत क्रमशः और बढ़ते क्रम में भौतिक यथार्थ के अधिक निकट पहुंचते हैं और इसी तरह भौतिक विज्ञान प्रगति करते हैं। तो मैं आपके लिए गैलीलियो का प्रयोग दोहराता हूं।

बच्चे क्यों न मानें कि हल्की चीज़ें भारी चीज़ों की अपेक्षा धीमे गिरती हैं। पहले मैं काग़ज़ का एक टुकड़ा लेता हूं, उसे एक हथेली पर सपाट रखता हूं, दूसरे हाथ से एक नोट बुक पकड़ता हूं और दोनों को गिरा देता हूं। अब मैं इस प्रयोग को दोहराता हूं मगर गिराते समय काग़ज़ को आड़ा रखने की बजाय खड़ा पकड़ता हूं। ज़ाहिर है कि इस काग़ज़ के गिरने की रफ़्तार इस पर निर्भर है कि मैं उसे कैसे छोड़ता हूं। यदि मैं इस प्रयोग को फिर से दोहराऊं मगर इस बार काग़ज़ के टुकड़े को मसलकर एक गेंद बना दूं तो आप देखेंगे कि नोट बुक के गिरने की गति में और काग़ज़ के टुकड़े के गिरने की गति में कोई ख़ास अंतर नहीं रह जाता।

अब मैं कह सकता हूं कि इस प्रदर्शन से स्पष्ट है कि काग़ज़ की आकृति की कुछ भूमिका ज़रूर है और यदि आप थोड़ा विश्लेषण करें तो समझ जाएंगे कि फ़र्क़ हवा के प्रतिरोध की वजह से पड़ रहा है।

प्रदर्शन को जारी रखते हुए, मैं काग़ज़ के टुकड़े को नोट बुक के नीचे रखकर दोनों को गिरा देता हूं। दोनों

स्पष्ट रूप से साथ-साथ गिरते हैं मगर शंकालु लोग कहेंगे कि इसमें तो एक चीज़ थी जो धीमी गिर रही थी और मैंने धीमी गिरनेवाली चीज़ को नीचे रख दिया तो ज़ाहिर है कि दोनों साथ-साथ गिरेगी, और इससे कुछ साबित नहीं होता। तो अब मेरा पसंदीदा प्रयोग पेश है। काग़ज़ का टुकड़ा लीजिए, यह नोट बुक लीजिए, काग़ज़ के टुकड़े को नोट बुक के ऊपर रख दीजिए ताकि नोट बुक काग़ज़ को नीचे नहीं दबा रही हो। और जैसा कि आप देख सकते हैं, ये दोनों फिर भी साथ-साथ गिरते हैं। तो गैलीलियो की बात सही है। इस क़वायद का मुद्दा यह है कि ऐसे सरल प्रयोग किए जा सकते हैं जो छात्रों की ग़लत अवधारणाओं को सीधे संबोधित कर सकते हैं और उनके दिमाग़ से निकाल सकते हैं। चलिए पहले कथन की बात करके मैं अपनी बात समाप्त करता हूं, 'पौधों का डील-डौल जड़ों के ज़रिए मिट्टी से लिए गए भोजन से बनता है'। यहां ज़्यादा लोग ऐसे होंगे जो यह मानते होंगे कि कम से कम यह कथन तो ग़लत है।

इस बारे में रिचर्ड फाइनमैन क्या कहते हैं। फाइनमैन कहते हैं: "कि विज्ञान सीखने के बाद दुनिया इतनी अलग लगती है। मसलन, पेड़ मूलतः हवा से बने हैं।" उनके कहने का मतलब यह है कि पेड़ों की काया कार्बन से बनी है और कार्बन, कार्बन डाईऑक्साइड से आता है। "जब उन्हें जलाया जाता है तो वे वापिस हवा में चले जाते हैं, और लपटों के साथ जो गर्मी निकलती है वह तपते हुए सूरज की वह गर्मी है जिसे बांधकर हवा को पेड़ का रूप दिया गया था।" यह प्रकाश संश्लेषण की क्रिया है। "और राख में वह बचा हुआ भाग है जो हवा से नहीं आया था, मिट्टी से आया था।" इससे पता चलता है कि जलने में पदार्थ ख़र्च होता है या नहीं। फाइनमैन आगे कहते हैं, "ये सुंदर चीज़ें हैं, और विज्ञान की विषयवस्तु अद्भुत ढंग से इनसे भरी पड़ी है। ये प्रेरणास्पद हैं, और इनका उपयोग अन्य लोगों को प्रेरित करने के लिए किया जा सकता है।"

विद्या भवन सोसायटी द्वारा प्रकाशित **ज्ञान का निर्माण** से साभार। ''ज्ञान का निर्माण'' सेमीनार विद्या भवन में 15–16 अप्रैल 2004 को आयोजित किया गया था। **विजय एस. वर्मा,** दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक रहे हैं। स्कूली शिक्षा में सक्रिय भागीदारी।

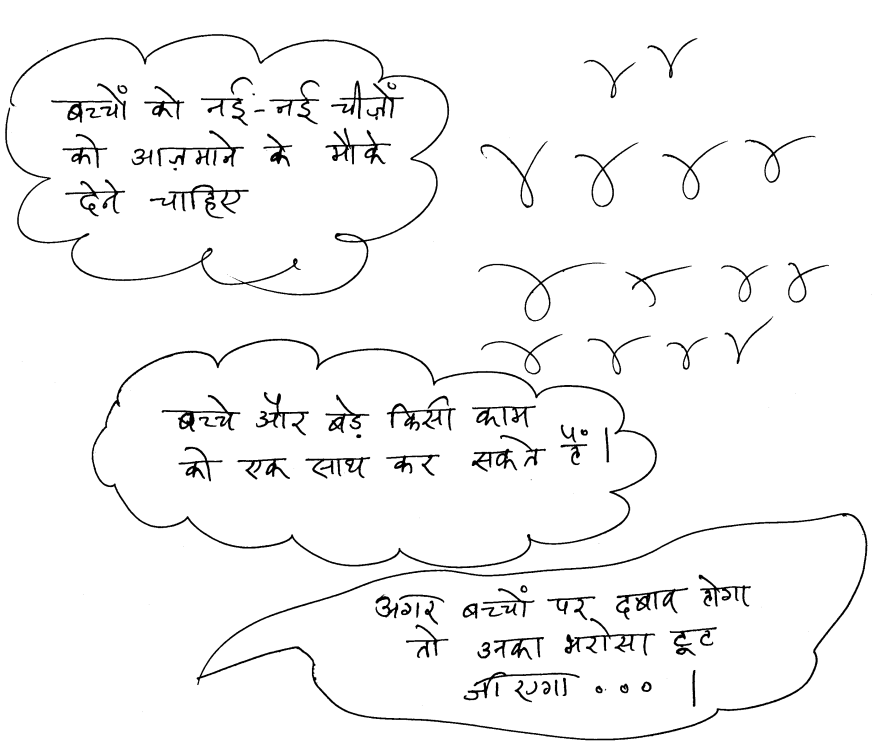

घट–घट में बसा है ज्ञान...

यह पाठ प्लेटो द्वारा लिखे सुकरात के संवाद 'मेनो' में से है। वास्तव में तो संवाद मेनो की मुख्य बहस 'सद्‌गुण' की परिभाषा करने पर है। पर बीच में यह सवाल उठ गया कि जानना और सीखना केवल पुनः स्मरण करना होता है। हर व्यक्ति के घट में सारा ज्ञान सदा ही रहता है, बस वह विस्मृत रहता है। यहां सुकरात यही सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। आप देखें कि उसे कितनी सफलता मिलती है।

सुकरात ईसा से पांचवीं शताब्दी पूर्व एथेंस में रहनेवाला एक दार्शनिक था। सुकरात के लिए ज्ञान प्राप्ति की प्रमुख विधि विचारों की सतत जांच करना ही थी। वह कहता था कि उसे स्वयं को कोई ज्ञान नहीं है, पर वह अपने अज्ञान को जानता है अतः औरों से सीखना चाहता है। जब कोई सुकरात को कुछ बताता था तो वह कहता था कि बतानेवाले की बात ठीक ही होगी, पर उसे जांच करने

के बाद ही ग्रहण किया जा सकता है। और बतानेवाला साथ जांच को तैयार हो जाता तो फिर सुकरात के प्रश्नों का सिलसिला शुरू हो जाता। सुकरात की मां दाई थी। वह कहता था कि उसके प्रश्न पूछने की कला विचारों की दाई की कला है, कि वह नये विचारों को जन्म तो नहीं देता, पर दूसरे को नये विचार पैदा करने में मदद करता है।

पर प्रश्न पूछना और जांच करना किसी भी समाज को ज़्यादा रास नहीं आता। सुकरात पर स्थापित देवताओं में अविश्वास, नये देवता बनाने और युवाओं को भ्रष्ट करने का आरोप लगा। और मृत्युदण्ड मिला। जांच का भय कोई बहुत नई बात नहीं है।

मेनो : हां, सुकरात। पर आपका इस बात से आशय क्या है कि हम सीखते कुछ भी नहीं, जिसे हम सीखना कहते हैं वह पुनः स्मरण (याद आ जाने) की प्रक्रिया भर है? क्या आप मुझे यह सिखा सकते हैं?

सुकरात : मैंने अभी कहा था ना मेनो, कि तुम बड़े बदमाश हो ! और तुमने अभी सिद्ध कर दिया कि मैंने ठीक कहा था। तुम कहते हो कि मैं तुम्हें 'सिखाऊं' , जबकि मैंने कहा है कि सीखना कुछ होता ही नहीं, बस पुनः याद आना भर होता है। तो मैं तुमको सिखाने की कोशिश करूंगा तो स्वयं ही विरोधाभास में फसूंगा।

मेनो : नहीं सुकरात, मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं था। मैंने तो आदत के अनुसार सवाल पूछा था। पर यदि तुम जो कहते हो उसे सिद्ध कर सकते हो तो मैं निवेदन करूंगा कि मुझे सिद्ध करके बताओ।

सुकरात : यह सरल काम तो नहीं होगा। पर मैं यथाशक्ति तुम्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करूंगा। क्या तुम अपने असंख्य गुलामों में से एक को बुला सकते हो, जिससे मैं तुम्हे करके दिखा सकूं?

मेनो : निश्चय ही। (लड़के, इधर आओ।)

सुकरात : यह यूनानी है, और यूनानी भाषा बोलता है, या नहीं?

मेनो : हां, हां बोलता है। यह इसी घर में जन्मा है।

सुकरात : अब मैं इससे कुछ सवाल पूछूंगा। तुम ध्यान से मेरे सवालों को सुनो और देखो कि यह मेरे से सीखता है या केवल पुनः याद करता है।

मेनो : ठीक है, मैं सुन रहा हूं।

सुकरात : तो लड़के, क्या तुम जानते हो कि इस तरह की आकृति वर्ग होती है?

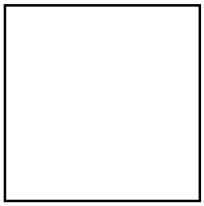

लड़का : हां, मैं जानता हूं।

सुकरात : क्या तुम यह भी जानते हो कि वर्ग आकृति में ये चारों भुजाएं बराबर होती हैं?

लड़का : बिल्कुल।

सुकरात : और ये रेखाएं जो मैंने बीच में खींची हैं वे भी आपस में बराबर हैं?

लड़का : जी हां।

सुकरात : वर्ग की आकृति (shape) किसी भी आकार (size) की हो सकती है?

लड़का : बिल्कुल, हो सकती है।

सुकरात : और यदि वर्ग की एक भुजा 2 फीट की हो और दूसरी भी 2 फीट की हो तो पूरा वर्ग कितना होगा? ठहरो, मैं स्पष्ट करता हूं : यदि एक दिशा में आकृति की भुजा 2 फीट हो, और दूसरी दिशा में भुजा 1 फीट हो, तो पूरी आकृति होगी

''एक बार दो फीट''?

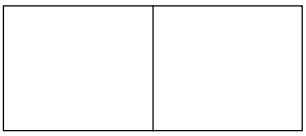

लड़का : ठीक है।

सुकरात : पर क्योंकि यह भुजा भी दो फीट है अतः हमारा वर्ग होगा ''दो बार 2 फीट'' क्षेत्र का?

लड़का : हां, होगा।

सुकरात : तो फिर वर्ग का क्षेत्र दो फीट का दुगुना हुआ?

लड़का : हां।

सुकरात : और दो का दुगुना कितना होता है? गिनकर बताओ।

लड़का : चार होता है, सुकरात।

सुकरात : क्या इससे दुगुना बड़ा वर्ग नहीं हो सकता? जिसकी भुजाएं इसी की तरह बराबर हों?

लड़का : हां, हो सकता है।

सुकरात : तो वह वर्ग कितने फीट का होगा? (उसका क्षेत्र कितने फीट होगा?)

लड़का : आठ फीट का।

सुकरात : तो अब बताओ कि आठ फीट क्षेत्र का वर्ग बनाने के लिए भुजा कितने फीट की होनी चाहिए? इस वर्ग की भुजा दो फुट की है, उसकी कितनी होगी?

लड़का : साफ है, सुकरात, वह इसकी दुगनी होगी।

सुकरात : तुम देख रहे हो मेनो, कि मैं लड़के को कुछ नहीं सिखा रहा, केवल प्रश्न पूछ रहा हूं। और अब यह समझता है कि ''आठ फीट क्षेत्र का वर्ग बनाने के लिए भुजा कितने फीट की होनी चाहिये? '' यह इसे पता है। क्या यह ऐसा नहीं समझता?

मेनो : हां, समझता है।

सुकरात : और क्या यह वास्तव में जानता है?

मेनो : बिल्कुल नहीं।

सुकरात : यह केवल अंदाज़ लगा रहा है कि क्योंकि वर्ग दुगुना है अतः भुजा भी दुगुनी होगी।

मेनो : ठीक, बात है।

सुकरात : तो अब देखें यह कैसे क्रमबद्ध तरीक़े से पुनः स्मरण करता है। (लड़के से) हां तो लड़के, क्या तुम निश्चय के साथ कहते हो कि दुगुना स्थान दुगुनी भुजा से बनेगा? याद रखना, मैं आयत की बात नहीं कर रहा हूं। बल्कि वर्ग की बात कर रहा हूं, जिसकी सभी भुजाएं बराबर हों। और इससे दुगुना हो, अर्थात् 8 फीट का। अब मैं जानना चाहता हूं कि क्या तुम अब भी यही कहते हो कि दुगुना वर्ग दुगुनी भुजा से बनेगा?

लड़का : हां

सुकरात : यदि हम एक ऐसी ही रेखा यहां और जोड़ दें तो क्या यह रेखा दुगुनी नहीं हो जाएंगी?

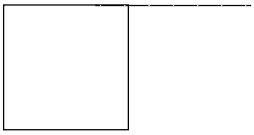

लड़का : निश्चय ही हो जायेगी।

सुकरात : और क्या चार ऐसी रेखाएं 8 फीट का स्थान बनायेंगीं?

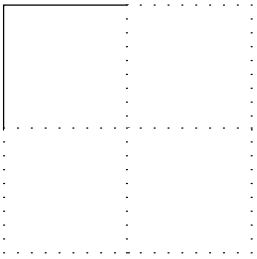

लड़का : हां।

सुकरात : चलो, ऐसी आकृति हम बना लेते हैं। क्या तुम ऐसा नहीं कहोगे कि यह 8 फीट की आकृति है?

लड़का : हां, है।

सुकरात : क्या इस आकृति में चार ऐसे भाग नहीं हैं जिनमें से हर एक चार फीट के बराबर है?

लड़का : ठीक बात है।

सुकरात : तो क्या वह चार बार चार

नहीं बनता?

लड़का : निश्चय ही बनता है।

सुकरात : और चार बार तो दुगुना नहीं होता?

लड़का : सचमुच नहीं होता।

सुकरात : तो कितना होता है?

लड़का : चार बार के बराबर।

सुकरात : तो भाई, दुगुनी भुजा से तो दुगुने स्थानवाला वर्ग नहीं बना, यह तो बना चार गुने स्थानवाला।

लड़का : सही है।

सुकरात : चार बार चार तो 16 होता है? क्यों, नहीं?

लड़का : हां।

सुकरात : तो कौन सी रेखा तुम्हें 8 फीट का स्थान देगी, जबकि यह रेखा तो 16 फीट का स्थान बनाती है? देख रहे हो?

लड़का : हां।

सुकरात : और चार फीट का वर्ग इस आधी रेखा से बनता है?

लड़का : हां।

सुकरात : बहुत अच्छा। क्या 8 फीट का स्थान इसका दुगुना और इसका आधा नहीं है?

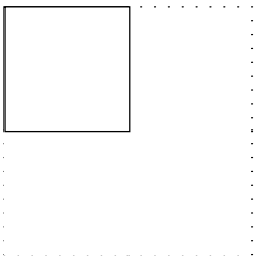

लड़का : बिल्कुल है।

सुकरात : तो फिर 8 फीट की आकृति ऐसी रेखा से बनेगी जो इससे बड़ी हो और इससे छोटी हो?

लड़का : हां, मैं ऐसा ही सोचता हूं।

सुकरात : बहुत बढ़िया। मैं वह सुनना पसंद करता हूं जो तुम सोचते हो। अच्छा अब बताओ क्या यह रेखा 2 फीट की और यह 4 फीट की नहीं है?

लड़का : हां, है।

सुकरात : तो फिर जो रेखा 8 फीट का वर्ग बनायेगी वह इस 2 फीट की रेखा से बड़ी होनी चाहिये और इस 4 फीट की रेखा से छोटी होनी चाहिये?

लड़का : बिल्कुल होनी चाहिये।

सुकरात : तो फिर बताने की कोशिश करो कि वह कितनी होनी चाहिये?

लड़का : तीन फीट।

सुकरात : तो यदि हम इस दो फीट की रेखा में इसी की आधी जोड़ दें तो वह तीन फीट की हो जायेगी। ये दो है ओर यह एक। और दूसरी तरफ भी यह दो और यह एक। तो यह वर्ग बना जिस की तुम बात कर रहे हो?

लड़का : हां, बना।

सुकरात : पर यदि तीन फीट इधर है और तीन ही दूसरी तरफ़ तो पूरी आकृति तीन बार तीन फीट की बनी?

लड़का : यह तो साफ़ ही है।

सुकरात : और तीन बार तीन कितना होता है?

लड़का : नौ।

सुकरात : और चार का दुगुना कितना होता है?

लड़का : आठ।

सुकरात : तो फिर आठ फीट स्थान का वर्ग तीन फीट की भुजा से नहीं बनता?

लड़का : ना।

सुकरात : तो फिर कौन सी भुजा से बनेगा? मुझे ठीक–ठीक बताओ। यदि बताने में दिक़्क़त है तो मुझे इशारे से दिखा दो।

लड़का : वास्तव में, सुकरात, मैं जानता नहीं हूं।

सुकरात : देखो मेनो, इसने पुनःस्मरण की शक्ति में क्या प्रगति की है? आठ के वर्ग की भुजा कितनी होगी यह इसे

पहले पता नहीं था, यह इसे अब भी पता नहीं है। पर तब यह सोचता था कि यह जानता है और विश्वास के साथ जवाब दे रहा था जैसे कि यह जानता है। इसे कोई कठिनाई नहीं थी। अब इसे समस्या है, न तो जानता है और न ही कपोल–कल्पना करता है कि जानता है।

मेनो : सच कहा।

सुकरात : क्या यह पहले से बेहतर नहीं है कि यह अपने अज्ञान को जानता है?

मेनो : मेरे विचार से यह अब बेहतर है।

सुकरात : यदि हमने इसे संदेह में डाल दिया है, और इसे 'टॉरपिडो झटका'[1] दिया है तो क्या इसका नुक़सान किया है?

मेनो : मेरे विचार से तो नहीं।

सुकरात : लगता है हमने निसंदेह कुछ हद तक सत्य की खोज करने में मदद की है? अब यह अपने अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करेगा। जबकि पहले यह सारी दुनिया को बताने को तैयार था कि दुगुनी भुजा से दुगुना वर्ग बनता है।

मेनो : सच है।

सुकरात : तुम्हें क्या लगता है कि यह कभी भी उस चीज़ की जांच करता या उसे वास्तव में जान पाता जिसके बारे में अनजान होते हुए भी यह सोचता था कि जानता है? क्या यह बिना संदेह में पड़े, इस विचार के साथ कि इसे ज्ञान नहीं है कभी जानने की इच्छा करता?

मेनो : मैं समझता हूं कि नहीं करता, सुकरात।

सुकरात : तो फिर टॉरपिडो की छुअन ने इसका भला किया।

मेनो : मैं ऐसा ही सोचता हूं।

सुकरात : तो अब आगे का विकास देखो। मैं इससे केवल पूछूंगा, इसे सिखाऊंगा नहीं; यह मेरे साथ विश्लेषण में भागीदार होगा। तुम ध्यान रखना कि मैं कहीं इसे बता या समझा तो नहीं रहा हूं, इसके विचार अभिव्यक्त करवाने के अलावा। अच्छा तो, लड़के, बताओ, क्या यह वर्ग जो मैंने बनाया है चार फीट का नहीं है?

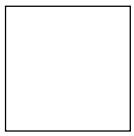

लड़का : है।

सुकरात : और अब यह एक और वर्ग पहले के बराबर इसमें जोड़ दें।

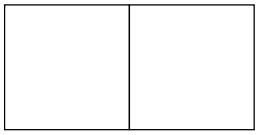

लड़का : हां।

सुकरात : और यह तीसरा भी जोड़ दें, जो पहले दोनों के अलग–अलग बराबर है?

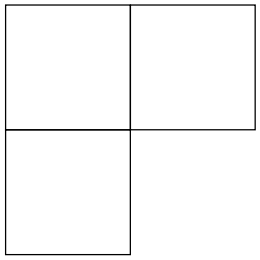

लड़का : हां।

सुकरात : तो यह खाली कोना भी भर दें?

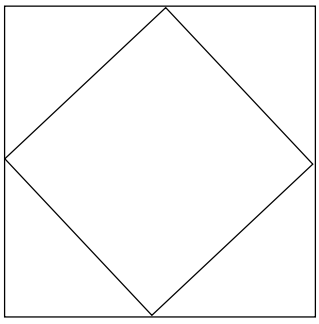

लड़का : बहुत बढ़िया।

सुकरात : तो फिर ये चार बराबर के वर्ग हैं?

लड़का : हां।

सुकरात : और यह बड़ा वर्ग इस

1. टॉरपिडो एक मछली का नाम है । यह मछली एक तैरता बिजलीघर होती है । जब कोई इस पर आक्रमण करता है तो यह टॉरपिडो आक्रमणकारी को बिजली का झटका लगा कर सुन्न कर देती है । इसी संवाद में पहले मेनो भी दावा कर रहा था कि वह सद्गुण की परिभाषा बता सकता है। सुकरात के प्रश्नों से निरुत्तर होने के बाद मेनो कहा कि वह (सुकरात) लोगों को विचार–सुन्न कर देता है । और इस प्रकार की जांच का कोई लाभ नहीं है । यहां टॉरपिडो मछली की बात सुकरात ने मेनो के उक्त कथन पर टिप्पणी के रूप में की है ।

छोटे का कितना गुणा है?

लड़का : चार गुणा।

सुकरात : पर तुम्हारे हिसाब से तो इसे दुगुना होना चाहिये था, याद है?

लड़का : सही है।

सुकरात : अच्छा, क्या ये रेखाएं, इस कोने से उस कोने तक, इन स्थानों को बराबर हिस्सों में बांटती हैं? या नहीं?

लड़का : हां बांटती हैं।

सुकरात : और क्या यहां चार बराबर की रेखाएं नहीं हैं जो इस स्थान को घेरती हैं?

लड़का : हां हैं।

सुकरात : अच्छा, देखो यह स्थान कितना है।

लड़का : मैं नहीं समझा।

सुकरात : क्या प्रत्येक अंदरवाली रेखा ने इन स्थानों को आधा–आधा नहीं काट दिया है?

लड़का : हां।

सुकरात : और इस हिस्से में कितने 'स्थान' (आधे टुकड़े) हैं।

लड़का : चार

सुकरात : और इसमें?

लड़का : दो।

सुकरात : और चार, दो का कितना गुणा होता है?

लड़का : दुगुना।

सुकरात : और यह स्थान कितने फीट का है?

लड़का : आठ फीट का।

सुकरात : और यह तुम्हें कौन–सी रेखा से मिलता है?

लड़का : इससे।

सुकरात : यानी जो रेखा चार फीट के वर्ग के कोने से कोने तक जाती है उसे भुजा बनाने से आठ फीट का वर्ग बनता है?

लड़का : हां।

सुकरात : इसी रेखा को विद्वान् विकर्ण कहते हैं। और यदि विकर्ण ही इस रेखा का नाम है, तो तुम क्या पक्के तौर पर कह सकते हो कि किसी वर्ग के दुगुने क्षेत्र का वर्ग उसके विकर्ण को भुजा बनाने से बनता है।

लड़का : निश्चय ही कह सकता हूं, सुकरात।

सुकरात : अब बोलो मेनो, क्या ये सभी उत्तर इस लड़के ने अपने दिमाग़ से नहीं दिए हैं?

मेनो : बिल्कुल ये सब इसी के उत्तर हैं।

सुकरात : पर कुछ ही देर पहले हम कह रहे थे कि यह नहीं जानता?

मेनो : सच है।

सुकरात : पर तब भी उसके पास ये सब विचार थे, क्या नहीं थे?

मेनो : ठीक है, थे।

सुकरात : तो फिर वह जो नहीं जानता उसके पास भी जिस चीज़ से वह अनजान है उसके बारे में सही विचार होते हैं?

मेनो : हां, होते हैं।

सुकरात : और अभी तो इस लड़के के मन में ये विचार केवल जगने ही लगे हैं, कुछ कुछ सपने की तरह। पर यदि यही प्रश्न इससे अलग अलग तरह से कई बार पूछे जायें तो क्या यह उतना ही जान जाएगा जितना कोई भी और जानता है?

मेनो : बिल्कुल जान जाएगा।

सुकरात : बिना किसी के सिखाए, यह अपने आप अपने सारे ज्ञान को पुनः पालेगा, यदि केवल इससे सवाल पूछे जाएं?

मेनो : हां।

सुकरात : और यह स्वयं ही ज्ञान का पुनः प्राप्त करना ही याद आना होता है?

मेनो : सही बात है।

(इस तरह सुकरात ने अपने विचार से दो चीज़ें सिद्ध कर दीं : 1. कि ज्ञान पुनःस्मरण होता है तथा 2. इस तरह प्रश्न करके (टॉरपिडो छुअन से) व्यक्ति को ज्ञान के पुनःस्मरण की राह पर लगाया जा सकता है।)

स्रोत : **प्लेटो, मेनो, यूनानी** से अंग्रेज़ी अनुवादक : बेन्जामिन जोवेट।
हिन्दी प्रस्तुतिः रोहित धनकर, दिगंतर जयपुर।

एक शंख बिन कुतुबनुमा

शरद जोशी

जिसे कहते हैं दिव्य, वे ऐसे ही लग रहे थे। किसी त्वचा मुलामय करनेवाले साबुन से सद्यः नहाए हुए। उन्नत ललाट और उस पर अपेक्षाकृत अधिक उन्नत टीका, लाल और हल्के पीले से मिला ईटवाला शेड। यह रंग कहीं बुशर्ट का होता तो आधुनिक होता। टीके का था तो पुराना, मगर क्या कहने! बाल लम्बे और बिखरे हुए, स्वच्छ बनियान और श्वेत धोतिका (मेरे ख़्याल से प्राचीनकाल में ज़रूर धोती को धोतिका कहते होंगे), चरणों में खड़–खड़ निनाद करनेवाले खड़ाऊं। किसी गहरे प्रोग्राम की सम्भावना में डूबी आंखें, हाथ में एक नग उपयोगी शंख। सब कुछ चारू, मारू और विशिष्ट।

उस समय सूर्य चौराहे के ऊपर था। लंच की भारतीय परम्परा के अनुसार डटकर भोजन करने के उपरान्त में पान खाने की संस्कृति का मारा चौराहे पर गया हुआ था। वहीं मैंने उस तेजोमय व्यक्तित्व के दर्शन किए।

'बाबू उत्तर कहां है, किस ओर है?'

मुझे अपने प्रति यह बाबू सम्बोधन अच्छा नहीं लगा। आज मैं सरकारी नौकरी में बना रहता, तो प्रमोशन पाकर छोटा–मोटा अफ़सर हो गया होता और एक छोटे से दायरे में साहब कहलाता। खैर, मैंने माइंड नहीं किया। जिस तरह दार्शनिक उलझाव में फंसा हुआ व्यक्ति जीवन के चौराहे पर खड़ा हो एक गम्भीर प्रश्न मन में लिए व्याकुल स्वरों में पुकारे कि उत्तर कहां है, कुछ उसी तरह। मैंने मन में समझ लिया कि किसी छायावादी आलोचक की कोई पुस्तक इस व्यक्ति के लिए मुफ़ीद होगी। अपने स्वरों में एक क़िस्म की जैनेन्द्री गम्भीरता लाकर मैंने पूछा– 'कैसा उत्तर भाई, तुम्हारा प्रश्न क्या है?'

अपने दिव्य नेत्रों से उन्होंने मेरी ओर यों देखा, जैसे वे किसी परम् मूर्ख की ओर देख रहे हों और बोले, ''मैं उत्तर दिशा को पूछ रहा हूं बाबू!''

यह सुन मेरा तत्काल भारतीयकरण हो गया। दार्शनिक ऊंचाई से गिरकर एकदम सड़क–छाप स्थिति।

''आपको कहां जाना है?'' मैंने सीधे सवाल किया। शहरों में यही होता है। अगर कोई व्यक्ति दूसरे से पूछे कि पांच नम्बर बस कहां जाती है तो जवाब में सुनने को मिलता है कि आपको कहां जाना है? राह कोई नहीं बताता, सब लक्ष्य पूछते हैं, जो उनका नहीं है।

''उत्तर दिशा किस तरफ़ है बाबू, आप पढ़े–लिखे हैं इतना तो बता सकते हैं...?''

मुझे अच्छा नहीं लगा। हर बात के लिए शिक्षा–प्रणाली को दोषी मानना ठीक नहीं। पढ़े–लिखे लोगों को उत्तर मालूम होता, तो अब तक देश के सभी प्रश्न सुलझ जाते। जहां तक मेरी स्थिति है, सही उत्तर मैंने परीक्षा भवन में नहीं दिया, तो यह तो चौराहा है। मैं क्यों देता?

''क्या आपको उत्तर दिशा की ओर जाना है?'' स्वर में मधुरता ला मैंने जिज्ञासा की।

''मुझे उत्तर दिशा की ओर मुंह कर यह शंख फूंकना है।'' उसने कहा, ''आप बता दें, तो मैं फूंक दूं।''

मैंने कमर पर हाथ रख सारा चौराहा घूमकर देखा, मगर उत्तर दिशा कहीं नज़र नहीं आई। दायीं ओर एक लांड्री थी, बायीं ओर पानवाला और उसके पास एक साइकिलवाला। सामने एक पनचक्की थी। एकाएक मुझे स्कूल में पढ़ी एक बात याद आई कि यदि हम पूर्व की ओर मुंह करके खड़े रहें, तो हमारे दाएं हाथ की ओर दक्षिण तथा बाएं हाथ की ओर उत्तर होगा। वामपंथ और दक्षिणापंथ के मतभेद यहीं से शुरू होते हैं।

''देखिए, यदि आप मुझे पूर्व दिशा

बता दें, तो मैं आपको उत्तर दिशा बता सकता हूं।'' मैंने प्रस्ताव किया।

''सूर्योदय जिधर से होता है, वही पूर्व दिशा है।''

''जी हां।''

''किधर से होता है, सूर्योदय?'' पूछने लगे।

''मुझे नहीं पता। मैं देर से सोकर उठता हूं।''

उन्होंने अपने दिव्य नेत्रों से मेरी ओर देखा जैसे वे किसी परम् आलसी की ओर देख रहे हों और बोले, ''आप सोते रहते हैं, सारा देश सोता रहता है और कलिकाल सिर पर छा गया है। चारों ओर पाप फैल रहा है, धर्म का नाश हो रहा हैं''

''हरे–हरे!'' मैंने सहमतिसूचक ध्वनि की।

''उत्तर दिशा पापात्माओं का केन्द्र है, दिल्ली राजधानी अधर्मियों का अड्डा बन गई है।''

''नहीं, ऐसा तो नहीं, स्थानीय चुनावों में तो धार्मिक लोग जाते हैं।'' मैंने कहा।

''मैं पार्लियामेंट की बात कर रहा हूं बाबू, संसद भवन और शासन की।''

''आप वहां जाकर कुछ अनशन–वनशन करेंगे?'' मैंने पूछा।

''नहीं, मैं यह दिव्य शक्ति–सम्पन्न शंख उत्तर दिशा की ओर फूंकूंगा। इसका स्वर दिवंगत तक गूंज उठेगा और उत्तर दिशा की पापात्माएं इसका स्वर सुनकर नष्ट हो जाएंगी।''

''शंख क्या एकदम विगुल हुआ। आप इसे माइक के सामने फूंकेंगे।'' मैंने जिज्ञासा की।

''बाबू समय आ गया है।'' उन्होंने सिर के ठीक ऊपर चमकते हुए सूर्य की ओर देखा और कहा– ''मुझे ठीक मध्याह्न में शंख फूंकना है। आप जल्दी बताइए उत्तर दिशा किधर है?''

''आप चारों ओर घूमकर सभी दिशाओं में इसे फूंक दीजिए, पाप तो सर्वत्र फैला हुआ है।''

''नहीं, केवल उत्तर दिशा में। गुरुजी की यही आज्ञा है। उत्तर में सत्ता का केन्द्र है। सर्वत्र पुण्य फैलेगा। बताइए, शीघ्र बताइए। मेरी सात दिनों की मन्त्र–साधना इस छोटी–सी सूचना के अभाव में नष्ट हुई जाती है।''

दोपहर का समय, कोई जानकार व्यक्ति वहां से गुजर भी नहीं रहा था। पानवाले, लांड्रीवाले, पनचक्कीवाले से पूछना व्यर्थ। तभी मैंने देखा– दो लड़के कन्धों पर बस्ता रखे चले जा रहे हैं। मैंने उन्हें रोका और बच्चों के कार्यक्रम के कंपीअरवाली मधुरता से पूछा– ''अच्छा बच्चो, जरा यह तो बताओ कि यदि हमें कभी यह पता लगाना हो कि उत्तर दिशा कहां है, तो हम क्या करेंगे?''

वे आश्चर्यपूर्ण मिचमिची आंखों से कुछ देर मेरी ओर देखते रहे। फिर उनमें से एक जो अपेक्षाकृत तेज़ था, उसने कहा– ''ध्रुवतारा उत्तर दिशा में चमकता है। यदि हम उस ओर देखते हुए सीधे खड़े रहें, तो हमारे सामने उत्तर, पीठ पीछे दक्षिण, दाहिनी ओर...''

''शाबाश बच्चो, मगर जैसे दिन का समय हो और किसी को यह जानना हो कि उत्तर दिशा कहां है, तो उसे क्या करना होगा?'' मैंने उन्हें बीच में रोककर फिर पूछा।

''इसके लिए हमें कुतुबनुमा देखना चाहिए, जिसकी सुई सदैव उत्तर दिशा बतलाती है।''

''शाबाश बच्चो, धन्यवाद!'' फिर मैंने दिव्य व्यक्ति से पूछा, ''आपके पास कुतुबनुमा है?''

''क्या होता है कुतुबनुमा?'' दिव्य उत्तर मिला।

''अच्छा बच्चो, यदि किसी के पास कुतुबनुमा न हो, तो वह उत्तर दिशा कसे पहचानेगा, ज़रा यह तो बताओ?''

''यह हमें नहीं पता।''

''हमारे कोर्स में नहीं है।'' दूसरे बच्चे ने कहा।

मैंने दिव्य व्यक्ति की ओर असहाय दृष्टि से देखा। जवाब में उन्होंने सूर्य की ओर देखा, फिर शंख की ओर देखा।

''एक कुतुबनुमा इस समय होना ज़रूरी है।''

''क्या होता है कुतुबनुमा?''

''एक प्रकार का यन्त्र होता है, जो दिशा बताता है।'' मैंने जवाब दिया।

''धिक्कार है, हम दिशा जानने के

लिए भी यान्त्रिकता के गुलाम हो गए। दिशाएं, जो चिरकाल से अटल हैं और सदा रहेंगी परन्तु हम उन्हें भूल गए। हम सब कुछ भूल गए।''

''ठीक कह रहे हैं आप। मैं तो शंख बजाना भी भूल गया। छोटा था, तब ख़ूब बजा लेता था। हमारी क्रिकेट टीम के किसी खिलाड़ी का एक रन भी बन जाता या हमारे बालक से एक विकेट भी आउट हो जाता या हमारे बालक सक एक विकेट भी आउट हो जाता तो मैं ख़ुशी में बाउंड्री पर खड़ा शंख बजाया करता था।'' मैंने कहा।

''साधना का एक चरम क्षण व्यर्थ जा रहा है बाबू, मैंने सात दिनों तक मन्त्र साधना कर इस शंख में वह शक्ति उत्पन्न की है कि जिधर फूंक दूं, वही दिशा भस्म हो जाए, पर मुझे यह बतानेवाला कोई नहीं है कि उत्तर दिशा कहां है? कहां है उत्तर दिशा, कहां है?'' उन्होंने व्यथित स्वरों से कहा और शंख हाथ में लेकर चारों ओर घूमने लगे और उनके साथ मैं भी घूमने लगा।

क्या किया जा सकता था? उनकी पीड़ा उस ऐक्टर की तरह थी, जो महाभारत ड्रामे में पार्ट कर रहा हो – ''हाय, यह ब्रह्मास्त्र कहीं ग़लत न छूट जाए, कोई मुझे इतना बता दे कि उत्तर दिशा कहां है? कहां है। कहां है उत्तर दिशा, नाथ!''

वह तेजोमय उन्नत ललाटवाला व्यक्ति अपने करों में एक दिव्य शक्ति–सम्पन्न शंख लिए खड़ा पूछ रहा है– ''उत्तर दिशा कहां है!'' इसका उत्तर किसी के पास नहीं है।

सच यह है कि कुतुबनुमा नहीं है। एक वैज्ञानिक तथ्य का अभाव सारी मन्त्रबल की, आत्मबल की शक्ति को निरर्थक कर रहा है।

''परम श्रद्धेय!'' मैंने हाथ जोड़कर कहा, जब तक शंख से कुतुबनुमा अटैच नहीं होगा, आपकी साधना इसी प्रकार व्यर्थ जाएगी। कुतुबनुमा अनिवार्य है, शंख की तरह ही अनिवार्य है।''

उन्होंने अपने दिव्य नेत्रों से मेरी ओर यों देखा, जैसे वे किसी परम नास्तिक की ओर देख रहे हों, जिसे भारतीय संस्कृति का मर्म नहीं मालूम। मैं डर गया। कहीं आवेश में वे अपना शंख मुझ पढ़े–लिखे पर ही नहीं फूंक दें, जो उत्तर दिशा नहीं जानता।

सूर्य अपनी बारह बजेवाली ऊंचाई से हट रहा था। साधना का उच्चतम क्षण खिसक रहा था। तेजोमय ललाट का वह दिव्य व्यक्ति काफ़ी देर तक चौराहे पर निराश–सा पैर पटकता रहा और फिर अपना शंख लिए एक ओर चला गया।

मैं क्या कर सकता था। पता नहीं, उत्तर थी या दक्षिण, मगर पानेवाले की दिशा में बढ़ जाने के अतिरिक्त मैं क्या कर सकता था।

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित संकलन 'यथासंभव' से साभार।

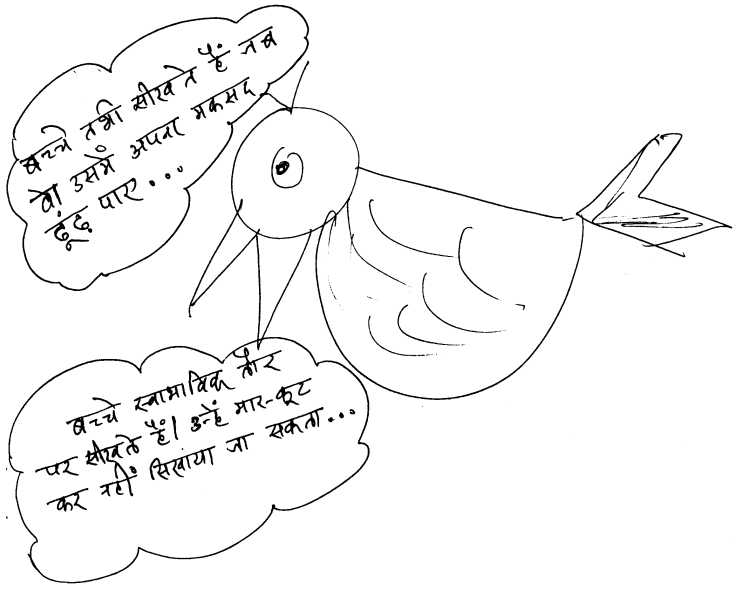

सीखना और ज्ञान

स्कूल में बच्चों के सीखने की प्रक्रियाओं को लेकर कवायदें चल रही हैं। कई आयोग और नीतियां बनी। हाल ही में 2005 में एक कोशिश और की गई जिसमें बच्चे को केन्द्र बिंदु मानकर शिक्षा का ताना–बाना रचने की अनुशंसा की है।

एनसीएफ कहता है कि बच्चे को ज्ञान की घुट्टी पिलाने के बजाए उसे ज्ञान का सृजक बनाया जाए। स्कूल में बच्चे का सम्मान हो, उसकी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर सीखने की प्रक्रियाओं को संचालित किया जाए।

प्रस्तुत है एनसीएफ–2005 का सीखना और ज्ञान का संपादित अंश–

आम दिनचर्या में, विद्यालय से बाहर हम बच्चों की जिज्ञासा, खोजी व लगातार प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति का आनंद लेते हैं। बच्चे अपने आस–पास की दुनिया से बहुत ही सक्रिय रूप से जुड़े रहते हैं। वे खोज–बीन करते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, चीज़ों के साथ कार्य करते हैं, चीज़ें बनाते हैं और अर्थ गढ़ते हैं, बचपन का विकास एक निरंतर बदलाव की अवस्था है जिसमें शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं का पूर्ण विकास शामिल होता है। इस विकास में वयस्क समाज में समाजीकृत होना भी शामिल है जिसमें बच्चा संसार का ज्ञान ग्रहण करता है और नए ज्ञान का सृजन भी करता है। बच्चा अपने आपको दूसरों से जोड़कर देखना सीखता है जिससे उनकी समझ बनती है, वह कार्य कर पाता है और रूपांतरण कर पाता है। समाज की हरेक नयी पीढ़ी को विरासत में संस्कृति एवं ज्ञान का एक भंडार मिलता है, जिसे वह अपनी गतिविधियों तथा समझ से समाहित करते हुए नया ज्ञान रचने की सार्थकता महसूस करता है।

सक्रिय विद्यार्थी की प्राथमिकता

समाज से मिलनेवाली अनौपचारिक शिक्षा, विद्यार्थी में अपना ज्ञान स्वयं सृजित करने की स्वभाविक क्षमता को विकसित करती है। जिससे विद्यार्थी में अपने आस–पास के सामाजिक एवं भौतिक वातावरण से और विभिन्न कार्यों से जुड़ने की क्षमता बढ़ती है। इसके लिए ऐसे मौक़ों का मिलना बहुत ज़रूरी है जिससे विद्यार्थी नयी चीज़ों को आजमाएं, जोड़–तोड़ करें, ग़लतियां करें और अपनी ग़लतियां खुद सुधारे। यह बात भाषा सीखने के लिए भी उतनी ही सच है जितनी किसी हस्तकौशल या विषय को सीखने के लिए। संस्थानों के तौर पर स्कूल सभी विद्यार्थियों को स्वयं के बारे में सीखने के, दूसरों व समाज के बारे में जानने के नए अवसर प्रदान करते हैं ताकि वे अपनी विरासत को समझकर उससे जुड़ पाएं, फिर चाहे उन्होंने किसी भी परिवार या समुदाय में जन्म लिया हो। स्कूल औपचारिक शिक्षा की जिन प्रक्रियाओं को संभव बनाता है वे विद्यार्थियों के जीवन में समझ व दुनिया से जुड़ने की नयी संभावनाएं खोल सकती हैं।

हमारे स्कूल के शैक्षिक अभ्यास, सिखाने के कार्य और विद्यार्थियों के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तकें, उनके समाजीकरण और उनके सीखने में ग्रहनशीलता के गुण पर केंद्रित होते हैं। जबकि हमें उनकी सक्रियता व रचनात्मक सामर्थ्य को पोषित और संवर्द्धित करना चाहिए। उनके दुनिया से वास्तविक तरीकों से संबंध बैठाने, दूसरों से जुड़ने की उनकी मूल अभिरुचि या अर्थ ढूंढ़ने की जन्मजात रुचि, को पोषित करना चाहिए। सीखना अपने आप में एक सक्रिय व सामाजिक गतिविधि है। प्रायः 'अच्छे विद्यार्थी' की जिस धारणा को प्रोत्साहित किया जाता है उसमें अध्यापकों की आज्ञा का पालन, नैतिक चरित्र और अध्यापक के शब्दों को

'आधिकारिक' ज्ञान की तरह स्वीकारना शामिल है।

विद्यार्थी को संदर्भ में रखना

बच्चों की आवाज़ व अनुभवों को कक्षा में अभिव्यक्ति नहीं मिलती। प्रायः केवल शिक्षक का स्वर ही सुनाई देता है। बच्चे केवल अध्यापक के सवालों का जवाब देने के लिए या अध्यापक के शब्दों को दोहराने के लिए ही बोलते हैं। कक्षा में वे शायद ही कभी स्वयं कुछ करके देख पाते हैं। उन्हें पहल करने के अवसर भी नहीं मिलते हैं। किताबी ज्ञान को दोहराने की क्षमता के विकास के बजाए पाठ्यचर्या बच्चों को इतना सक्षम बनाए कि वे अपनी आवाज़ ढूंढ़ सकें, अपनी उत्सुकता का पोषण कर सकें, स्वयं करें, सवाल पूछें, जांचे–परखें और अपने अनुभवों को स्कूली ज्ञान के साथ जोड़ सकें।

बच्चे उसी वातावरण में सीख सकते हैं जहां उनको लगे कि उन्हें महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। हमारे स्कूल आज भी सभी बच्चों को ऐसा महसूस नहीं करवा पाते। सीखने का आनंद व संतोष के साथ रिश्ता होने की बजाए भय, अनुशासन व तनाव से संबंध हो तो यह सीखने के लिए अहितकारी होता है। आज यह आवश्यक है कि हमारे सभी बच्चे यह महसूस करें कि वे सभी, उनका घर, उनका समुदाय, उनकी भाषा और संस्कृति महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें अनुभव के ऐसे संसाधनों के रूप में देखा जाए जिन्हें विद्यालय में जांचा तथा विश्लेषित किया जाना है; उनकी विविध क्षमताओं को मान्यता मिले; यह माना जाए कि सभी बच्चों को सीखने की क्षमता है और सभी की ज्ञान, एवं कौशलों तक पहुंच हो और वयस्क समाज उन्हें सबसे अच्छा करने के योग्य माने।

ज्ञान सृजन के लिए अध्यापन

रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में, सीखना ज्ञान के निर्माण की एक प्रक्रिया है। विद्यार्थी सक्रिय रूप से पूर्व प्रचलित विचारों में उपलब्ध सामग्री, गतिविधियों और अनुभव के आधार पर अपने लिए ज्ञान की रचना करते हैं।

ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया का एक सामाजिक पहलू यह भी है कि जटिल कार्य के लिए आवश्यक ज्ञान समूह परिस्थितियों में निहित होता है। इस संदर्भ में, सहयोगी शिक्षण के लिए अर्थ की बहुलता और बाह्य यथार्थ के अंदरूनी प्रतिनिधित्व को पर्याप्त जगह दिए जाने की ज़रूरत है। निर्मिति यह संकेत देती है कि हर विद्यार्थी व्यक्तिगत और सामाजिक तौर पर अर्थ का निर्माण करता है। अर्थ निर्माण सीखता है। रचनात्मक परिप्रेक्ष्य ऐसी रणनीतियां उपलब्ध करवाता है जो सबके द्वारा सीखने को प्रोत्साहित करता है।

बच्चों के संज्ञान में अध्यापकों की भूमिका भी बढ़ सकती है यदि वे ज्ञान निर्माण की उस प्रक्रिया में ज़्यादा सक्रिय रूप से शामिल हो जाएं जिसमें बच्चे व्यस्त हैं। सीखने की प्रक्रिया में व्यस्त एक बालक या बालिका अपने ज्ञान का सृजन खुद करता या करती है। बच्चों को ऐसे प्रश्न पूछने की अनुमति देना जिनसे वे स्कूल में सिखाई जानेवाली चीज़ों का संबंध बाहरी दुनिया से स्थापित कर सकें, उन्हें एक ही तरीक़े से उत्तर रटने और देने की बजाए अपने शब्दों में जवाब देने और अपने अनुभव बताने के लिए प्रोत्साहित करना– ये सभी बच्चों की समझ विकसित करने में छोटे किन्तु बेहद महत्त्वपूर्ण क़दम हैं।

जो हम जानते हैं और जो लगभग जानते हैं, के बीच के 'क्षेत्र' में नए ज्ञान का सृजन होता है। प्रायः ऐसा ज्ञान कौशलों का रूप ले लेता है जो स्कूल के बाहर घर अथवा समुदाय में परिष्कृत होते हैं। ऐसे सभी प्रकार के ज्ञान व शिल्पों का आदर होना चाहिए। एक संवेदनशील और समझदार अध्यापक यह जानता है और बच्चों को भली भांति चुने हुए कार्यों व प्रश्नों में व्यस्त करना ताकि वे अपने विकास की क्षमता का अनुभव कर सकें।

पूछताछ, अन्वेषण, प्रश्न पूछना, वाद–विवाद, व्यावहारिक प्रयोग व ऐसा चिंतन जिससे सिद्धान्त बन सके और विचार/स्थितियों की रचना हो सके ये सभी बच्चों की सक्रिय व्यस्तता को सुनिश्चित करते हैं। स्कूलों द्वारा ऐसे अवसर प्रदान किए जाने चाहिए ताकि बच्चे प्रश्न पूछकर और चर्चा एवं चिंतन कर अवधारणाओं को आत्मसात करें या नए विचार रचें। इस प्रक्रिया के ज़रिए विभिन्न अवधारणाओं एवं कौशलों सीखने के लिए व स्थितियों तक पहुंचने के लिए बच्चों की सक्रिय भूमिका में चुनौती का तत्व निर्णायक है।

अंतःक्रिया का मूल्य

सीखने की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है आसपास के वातावरण, प्रकृति, चीज़ों व लोगों से कार्य व भाषा

दोनों के माध्यम से अंतःक्रिया करना। इधर–उधर घूमना, खोजना, अकेले काम करना या अपने दोस्तों या वयस्कों के साथ काम करना, भाषा को पढ़ना, अभिव्यक्त करना, पूछने और सुनने के लिए प्रयोग करना, ये कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण क्रियाएं हैं जिनसे सीखना संभव होता है। जिस संदर्भ में यह अधिगम होता है उसकी प्रत्यक्षतः संज्ञानात्मक महत्ता है।

शैक्षिक अनुभवों की रूपरेखा बनाना

शैक्षिक कार्य की गुणवत्ता, उससे सीख पाने की योग्यता और विद्यार्थी के लिए उसकी महत्ता को प्रभावित करती है। वे अभ्यास जो बहुत सरल होते हैं, या बहुत कठिन, जो बार–बार एक ही बात यांत्रिक रूप से दोहराते हैं, जो पाठ्यपुस्तक को याद करने पर आधारित होते हैं, जो बच्चे को आत्माभिव्यक्ति व प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं देते, शिक्षक के जांच कार्य पर ही निर्भर रहते हैं, वे बच्चे को आज्ञापालन करनेवाली निष्क्रिय कठपुतली बना देते हैं। शिक्षार्थी अपने विचारों व विवेक को महत्त्व देना नहीं सीखते हैं। वे यह सीखते हैं कि ज्ञान दूसरों के द्वारा बनाया जाता है और उन्हें सिर्फ़ ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए अध्यापकों पर यह ज़िम्मेदारी है कि शिक्षा के प्रति जो बच्चे उत्साहित नहीं लगते उन्हें वे प्रोत्साहित करें। शिक्षार्थी नियंत्रित होना स्वीकार कर लेते हैं और यह चाहने लगते हैं कि उन्हें नियंत्रण में रहना आए। यह अंततः संज्ञानात्मक आत्म–चिंतन और उस लचीलेपन के विकास के लिए हानिकारक है जो दरअसल अधिगम से विद्यार्थी को सशक्त बनाने के लिए आवश्यक है।

स्वतंत्र विचार प्रक्रिया और हल करने के विविध तरीकों को प्रोत्साहित करनेवाले चुनौतीपूर्ण कार्य शिक्षार्थियों में स्वतंत्रता, रचनात्मकता और आत्मानुशासन को प्रोत्साहित करते हैं।

सीखने के वे कार्य जो सुनिश्चित करने के लिए रचे गए हैं कि बच्चे पाठ्यपुस्तकों के अलावा अन्य स्रोतों से भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित होंगे, इस दर्शन को संप्रेषित करते हैं कि बच्चे ख़ुद ही खोज करके एवं प्रमाण जुटा के सीखते हैं एवं ज्ञान का सृजन करते हैं। अध्यापक या पाठ्यपुस्तक का ज्ञान पर प्रभुत्व नहीं होता है। बच्चे अपने ख़ुद के अनुभवों से, घर एवं समुदाय के सदस्यों के अनुभवों से, पुस्तकालयों से और स्कूल के बाहर अन्य स्रोतों से ज्ञान की तलाश सकते हैं।

विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र

कक्षा में शिक्षक व शिक्षार्थी की अंतःक्रिया विवेचनात्मक होती है क्योंकि उसमें यह परिभाषित करने की ताक़त होती है कि किसका ज्ञान स्कूल संबंधी ज्ञान का हिस्सा बनेगा और किसकी आवाज़ उसे आकार देगी। शिक्षार्थी केवल ऐसे छोटे बच्चे नहीं होते जिनके लिए वयस्कों को कुछ हल ढूंढ़ने होते हैं। वे अपनी परिस्थिति व ज़रूरतों के सूक्ष्म पर्यवेक्षक होते हैं तथा उन्हें अपनी शिक्षा व भावी अवसरों से संबंधित समस्याओं के हल की प्रक्रिया तथा विमर्श में भाग लेना चाहिए। अतः बच्चों में चेतना होनी चाहिए कि उनके अनुभव व उनकी अनुभूतियां भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें अपनी मानसिक योग्यता को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि वे स्वतंत्र रूप से तर्क व विचार कर सकें और असहमत होने का साहस रखें। बच्चे जो स्कूल से बाहर सीखते हैं उनकी क्षमताएं, सीखने का सामर्थ्य और ज्ञान जिसे वे स्कूल लेकर आते हैं वह भी अधिगम की संवृद्धि में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह उन बच्चों के लिए और भी महत्त्वपूर्ण है जो वंचित पृष्ठभूमि से आते हैं, ख़ासकर लड़कियों के लिए क्योंकि उनकी दुनिया और उनकी वास्तविकताएं स्कूली ज्ञान में बहुत कम दिखलाई देती हैं।

ज्ञान की कल्पना संगठित अनुभव के रूप में की जा सकती है, जो भाषा, विचार– शृंखला (या संकल्पना की संरचना) के माध्यम से अर्थबोध पैदा करती है, जिसके माध्यम से हमें अपने संसार को समझने में सफलता मिलती है। इसकी कल्पना गतिविधियों की शृंखला, शारीरिक कुशलता के साथ विचार, संसारी कार्यों में सहभागिता और चीज़ों की रचना करने के रूप में भी की जा सकती है। समय के साथ, इंसान ने अपने लिए स्वयं ही ज्ञान की नयी विधाएं विकसित की हैं, जिसमें सोचने के ढंग, अनुभव तथा कार्य–निष्पादन और अतिरिक्त ज्ञान निर्माण के आयाम शामिल हैं। सारे बच्चों को इस संपत्ति के काफ़ी बड़े भाग का पुनःसृजन करना पड़ता है, जो कि आगे की सोच और विश्व में सही प्रकार से कार्य करने के लिए आवश्यक

होता है। ज्ञान सृजन की प्रक्रियाओं में भाग लेना, अर्थ ढूंढना और मानवीय कर्म में भागीदारी भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान की यह व्यापक कल्पना हमें उस दिशा में ले जाती है, जो ज्ञान का परीक्षण केवल 'परिणाम' के अर्थों में न करके सृजन की प्रक्रिया के नियमों के रूप में, व्यवस्थापन, उपलब्धता एवं उपयोग के अर्थों में भी करता है। यह कल्पना सुझाती है कि पाठ्यचर्या में जितना ध्यान सीखने की विषय–वस्तु पर दिया जाए उतना ही इस पर भी दिया जाए कि शिक्षार्थी पुनःसृजित ज्ञान से कैसे जुड़ते हैं और सीखने की प्रक्रिया क्या है।

दूसरी ओर, ज्ञान को अगर तैयार माल की श्रेणी में रखा जाए, तो उसको ऐसी सूचना के तौर पर व्यवस्थित करना होगा जिसका बच्चों के दिमाग़ में स्थानांतरण हो सके। शिक्षा तब मानवीय ज्ञान के इस ख़ज़ाने को बनाए रखने और उसे प्रसारित करने में ही लगी रहेगी। ज्ञान के इस दृष्टिकोण के मुताबिक़ सीखनेवाले की परिकल्पना निष्क्रिय भाव से ग्रहण करनेवाले के रूप में प्रकट की गई है, जबकि पिछले दृष्टिकोण में अवलोकन द्वारा विश्व के साथ सक्रिय जुड़ाव, संवेदना, मनन, कर्म और बांटना शामिल हैं।

बच्चों का ज्ञान और स्थानीय ज्ञान

बच्चे का समुदाय और उसका स्थानीय वातावरण अधिगम प्राप्ति के लिए प्राथमिक संदर्भ होता है जिसमें ज्ञान अपना महत्त्व अर्जित करता है। परिवेश के साथ अंतःक्रिया करके ही बच्चा ज्ञान सृजित करता है और जीवन में सार्थकता पाता है। हालांकि पाठ्यपुस्तकों की संकल्पना और शिक्षा–शास्त्रीय व्यवहार में हमेशा से ही इस समझ की अवहेलना की गई है। सीखने को बच्चे के परिवेश में स्थित करने पर और स्कूल एवं बच्चे के प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण और स्कूल के बीच की सीमा रेखा को सरन्ध्र बनाने पर भी ज़ोर दे रहे हैं। यह केवल इसलिए नहीं कि अपने परिवेश में बच्चों का अपना अनुभव ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश का बेहतर माध्यम होता है बल्कि इसीलिए भी कि ज्ञान का मतलब ही दुनिया से जुड़ना है। यह केवल साधन नहीं हैं, बल्कि साधन और साध्य दोनों है। इसके लिए हमें ज्ञान को व्यावहारिक बनाने की ज़रूरत नहीं होती न तात्कालिक रूप से प्रासंगिक बनाने की, बल्कि इसके द्वारा संसार से जुड़ते हुए इसकी गत्यात्मकता को पहचानने की जरूरत है।

शिक्षार्थी जब तक अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को पाठ्यपुस्तक में निरूपित संदर्भों के संबंध में स्थित नहीं कर पाते और इस ज्ञान को समाज के अपने अनुभवों से जोड़ नहीं पाते, तब तक ज्ञान मात्र सूचना के ही स्तर पर रहता है। अगर हम यह देखना चाहते हैं कि अधिगम सामुदायिक जीवन के भविष्य के दर्शन से कैसे जुड़ता है तो इस बात पर मनन को प्रोत्साहित करना निर्णायक होगा कि किसी चीज़ का ज्ञान होने का क्या अर्थ है, और जो हमने सीखा उसे उपयोग में कैसे लाएं। शिक्षार्थी को उसके सीखने में एक सक्रिय भागीदारी की तरह पहचानने की ज़रूरत है।

दिन प्रतिदिन बच्चे स्कूल में अपने आसपास की दुनिया के अनुभव लेकर आते हैं वे पेड़ जिन पर वे चढ़े, फल जो उन्होंने खाए, चिड़ियां जिन्हें उन्होंने पसंद किया। हर बच्चा बहुत ही सक्रिय होकर दिन और रात के प्राकृतिक चक्र को देखता है, मौसम, पानी, अपने आसपास के जानवरों और पौधों को भी देखता है। जब बच्चे पहली कक्षा में प्रवेश लेते हैं तो उसके पास पहले से ही समृद्ध भाषा होती है, छोटे अंकों का आधार होता है। फिर भी हम बिरले ही उनके ज्ञान को कक्षा में सुन पाते हैं। बिरले ही हम पाठ या पढ़ाने के दौरान उनसे स्कूल के बाहर की दुनिया के बारे में बात करते हैं। उल्टे हम छपे हुए शब्दों और तस्वीरों की सहूलियत का सहारा ले लेते हैं जो प्राकृतिक संसार की बहुत ही घटिया प्रतिकृति होती है।

ज्ञान के सृजन एवं पुनः सृजन के लिए अनुभव के आधार, भाषाई क्षमताओं एवं प्राकृतिक संसार और दूसरे लोगों के साथ अंतःक्रिया की ज़रूरत होती है। स्कूल में पहली बार प्रवेश करते समय बच्चा संसार के ज्ञान का सृजन करना शुरू कर चुका होता है। हर चीज़ जो बच्चे बाद में सीखते हैं वह उस ज्ञान से संबंधित होता है जो वह स्कूल में लेकर आते हैं। यह ज्ञान भी अंतःप्रज्ञात्मक होता है। स्कूल अवसर देता है कि इसी ज्ञान को आधार मान कर, सचेत रहकर और जुड़ाव के साथ आगे बढ़ा जाए।

साभार : राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005।

तोता–कहानी

रवींद्र नाथ टैगोर

एक था तोता। वह बड़ा मूर्ख था। गाता तो था, पर शास्त्र नहीं पढ़ता था। उछलता था, फुदकता था, उड़ता था, पर यह नहीं जानता था कि क़ायदा–क़ानून किसे कहते हैं।

राजा बोले, ''ऐसा तोता किस काम का? इससे लाभ तो कोई नहीं, हानि ज़रूर है। जंगल के फल खा जाता है, जिससे राजा–मण्डी के फल–बाज़ार में टोटा पड़ जाता है।''

मंत्री को बुलाकर कहा, ''इस तोते को शिक्षा दो!''

तोते को शिक्षा देने का काम राजा के भानजे को मिला।

पण्डितों की बैठक हुई। विषय था, ''उक्त जीव की अविद्या का कारण क्या है?'' बड़ा गहरा विचार हुआ।

सिद्धान्त ठहरा : तोता अपना घोंसला साधारण खर–पात से बनाता है। ऐसे आवास में विद्या नहीं आती। इसलिए सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि इसके लिए कोई बढ़िया–सा पिंजरा बना दिया जाय।

राज–पण्डितों को दक्षिणा मिली और वे प्रसन्न होकर अपने–अपने घर गये।

सुनार बुलाया गया। वह सोने का पिंजरा तैयार करने में जुट गया। पिंजरा ऐसा अनोखा बना कि उसे देखने के लिए देश–विदेश के लोग टूट पड़े। कोई कहता, ''शिक्षा तो इति हो गयी।'' कोई कहता, ''शिक्षा न भी हो तो क्या, पिंजरा तो बना। इस तोते का भी क्या नसीब है।''

सुनार को थैलियां भर–भरकर इनाम मिला। वह उसी घड़ी अपने घर की ओर रवाना हो गया।

पण्डितजी तोते को विद्या पढ़ाने बैठे। बोले, ''यह काम थोड़ी पोथियों का नहीं है।''

राजा के भानजे ने सुना। उन्होंने उसी समय पोथी लिखनेवालों को बुलवाया। पोथियों की नक़ल होने लगी। नक़लों के और नक़लों की नक़लों के पहाड़ लग गये। जिसने भी देखा, उसने यही कहा कि, ''शाबास! इतनी विद्या के धरने को जगह भी नहीं रहेगी।''

नक़लनवीसों को लद्दू बैलों पर लाद–लादकर इनाम दिये गए। वे अपने–अपने घर की ओर दौड़ पड़े। उनकी दुनिया में तंगी का नाम–निशान भी बाक़ी न रहा।

दामी पिंजरे की देख–रेख में राजा के भानजे बहुत व्यस्तता रहने लगे। इतने व्यस्त कि व्यवस्तता की कोई सीमा न रही। मरम्मत के काम भी लगे ही रहते। फिर झाड़–पोंछ और पालिश की धूम भी मची ही रहती थी। जो भी देखता, यही कहता कि ''उन्नति हो रही है।''

इन कामों पर अनेक–अनेक लोग लगाये गये और उनके कामों की देख–रेख करने पर और भी अनेक–अनके लोग लगे। सब महीने–महीने मोटे–मोटे वेतन ले लेकर बड़े–बड़े सन्दूक भरने लगे।

वे और उनके चचेरे–ममेरे–मौसेरे भाई–बंद बड़े प्रसन्न हुए और बड़े–बड़े कोठों–वालाख़ानों में मोटे–मोटे गद्दे बिछाकर बैठ गये।

संसार में और–और अभाव तो अनेक हैं, पर निन्दकों की कोई कमी नहीं है। एक ढूंढ़ों हज़ार मिलते हैं। वे बोले, ''पिंजरे की तो उन्नति हो रही है, पर तोते की खोज–ख़बर लेने वालो कोई नहीं है।''

बात राजा के कानों में पड़ी। उन्होंने भानजे को बुलाया और कहा, ''क्यों भानजे साहब, यह कैसी बात सुनाई पड़

रही है?''

भानजे ने कहा, 'महाराज, अगर सच–सच बात सुनना चाहते हों तो सुनारों को बुलाइये, पण्डितों को बुलाइये, नक़लनवीसों को बुलाइये, मरम्मत करनेवालों को और मरम्मत की देख–भाल करने वालों को बुलाइये। निन्दकों को हलवे–मांडे में हिस्सा नहीं मिलता, इसीलिए वे ऐसी ओछी बातें करते हैं।''

जवाब सुनकर राजा ने पूरे मामले को भली–भांति और साफ़–साफ़ तौर से समझ लिया। भानजे के गले में तत्काल सोने के हार पहनाये गये।

राजा का मन हुआ कि एक बार चलकर अपनी आंखों से यह देखें कि शिक्षा कैसे धूमधड़ाके से और कैसी बगटुट तेज़ी के साथ चल रही है। सो, एक दिन वह अपने मुसाहबों, मुंहलगों, मित्रों और मंत्रियों के साथ आप ही शिक्षा–शाला में आ धमके।

उनके पहुंचते ही ड्योढ़ी के पास शंख, घड़ियाल, ढोल, तासे, खुरदक, नगाड़े, तुरहियां, भेरियां, दमामे, कांसे, बांसुरिया, झाल, करताल, मृदंग, जगझम्प आदि–आदि आप ही आप बज उठे। पण्डित गले फाड़–फाड़कर और चुटियां फड़का–फड़काकर मंत्र–पाठ करने लगे। मिस्त्री, मज़दूर, सुनार, नक़लनवीस, देख–भाल करने वाले और उन सभी के ममेरे, फुफेरे, चचेरे, मौसेरे भाई जय–जयकार करने लगे।

भानजा बोला, ''महाराज, देख रहे हैं न?''

महाराज ने कहा, ''आश्चर्य! शब्द तो कोई कम नहीं हो रहा!''

राज प्रसन्न होकर लौट पड़े। ड्योढ़ी को पार करके हाथी पर सवार होने ही वाले थे कि पास के झुरमुट में छिपा बैठा निन्दक बोल उठा, ''महाराज आपने तोते को देखा भी है?''

राजा चौंके। बोले, ''अरे हां! यह तो मैं बिलकुल भूल ही गया! तोते को तो देखा ही नहीं!''

लौटकर पण्डित से बोले, ''मुझे यह देखना है कि तोते को तुम पढ़ाते किस ढंग से हो।''

पढ़ाने का ढंग उन्हें दिखाया गया। देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। पढ़ाने का ढंग तोते की तुलना में इतना बड़ा था कि तोता दिखाई ही नहीं पड़ता था। राजा ने सोचा : अब तोते को देखने की ज़रूरत ही क्या है? उसे देखे बिना भी काम चल सकता है! राजा ने इतना तो अच्छी तरह समझ लिया कि बंदोबस्त में कहीं कोई भूल–चूक नहीं है। पिंजरे में दाना–पानी तो नहीं था, थी सिर्फ़ शिक्षा। यानि ढेर की ढेर पोथियों के ढेर से ढेर पन्ने फाड़–फाड़कर क़लम की नोंक से तोते के मुंह में घुसेड़े जाते थे। गाना तो बन्द हो ही गया था, चीख़ने–चिल्लाने के लिए भी कोई गुंजायश नहीं छोड़ी गयी थी। तोते का मुंह ठसाठस भरकर बिलकुल बन्द हो गया था। देखनेवाले के रोंगटे खड़े हो जाते।

अब दुबारा जब राजा हाथी पर चढ़ने लगे तो उन्होंने कान–उमेठू सरदार को ताकीद कर दी कि ''निन्दक के कान अच्छी तरह उमेठ देना!''

तोता दिन पर दिन भद्र रीति के अनुसार अधमरा होता गया। अभिभावकों ने समझा कि प्रगति काफ़ी आशाजनक हो रही है। फिर भी पक्षी–स्वभाव के एक स्वाभाविक दोष से तोते का पिंड अब भी छूट नहीं पाया था। सुबह होते ही वह उजाले की ओर टुकुर–टुकुर निहारने लगता था और बड़ी ही अन्याय–भरी रीति से अपने डैने फड़फड़ाने लगता था। इतना ही नहीं, किसी–किसी दिन तो ऐसा भी देखा गया कि वह अपनी रोगी चोंच से पिंजरे की सलाखें काटने में जुटा हुआ है।

कोतवाल गरजा, ''यह कैसी बेअदबी है!''

फ़ौरन लुहार हाजिर हुआ। आग, माथी और हथौड़ा लेकर। वह धम्मा धम्म लोहा–पिटाई हुई कि कुछ न पूछिये! लोहे की सांकल तैयार की गई और तोते के डैने भी काट दिये गए।

राजा के संबंधियों ने हांड़ी–जैसे मुंह लटका कर और सिर हिलाकर कहा, '' इस राज्य के पक्षी सिर्फ़ बेवक़ूफ़ ही नहीं नमक–हराम भी हैं।''

और तब, पण्डितों ने एक हाथ में क़लम और दूसरे हाथ में बरछा ले–लेकर वह कांड रचाया, जिसे शिक्षा कहते हैं।

लुहार की लुहसार बेहद फैल गयी और लुहारिन के अंगों पर सोने के गहने शोभने लगे और कोतवाल की चतुराई देखकर राजा ने उसे सिरोपा अता किया।

तोता मर गया। कब मरा, इसका निश्चय कोई भी नहीं कर सकता। कमबख्त निन्दक ने अफ़वाह फैलायी कि ''तोता मर गया!''

राजा ने भानजे को बुलाया और कहा, ''भानजे साहब यह कैसी बात सुनी जा रही है?''

भानजे ने कहा, ''महाराज, तोते की शिक्षा पूरी हो गई है!''

राजा ने पूछा, ''अब भी उछलता–फुदकता है?''

भानजा बोला, ''अजी, राम कहिये!''

''अब भी उड़ता है?''

''नाः, क़तई नहीं!''

'' अब भी गाता है?''

''नहीं तो!''

''दाना न मिलने पर अब भी चिल्लाता है?''

''ना!''

राजा ने कहा, '' एक बार तोते को लाना तो सही, देखूं तो ज़रा!''

तोता लाया गया। साथ में कोतवाल आये, प्यादे आये, घुड़सवार आये!

राजा ने तोते को चुटकी से दबाया। तोते ने न हां की, न हूं। हां, उसके पेट में पोथियों के सूखे पत्ते खड़खड़ाने ज़रूर लगे।

बाहर नव–वसन्त की दक्षिणी बयार में नव–पल्लवों ने अपने निश्वासों से मुकुलित वन के आकाश को आकुल कर दिया।

साभार : रवीन्द्र नाथ का बाल साहित्य,भाग–एक, प्रकाशक साहित्य अकादमी।

मशविरा

बधाई! विद्या भवन शिक्षा केन्द्र से प्रकाशित 'खोजबीन' का ताजा अंक (7 व 8) पढ़कर एक अकादमिक एवं व्यावसायिक सुख की अनुभूति हुई। ऐसा लगा कि शैक्षिक पत्रकारिता में वह शक्ति है जो शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर एक पैनी नज़र डाल सकती है। यूं तो कई घटिया एवं स्तरहीन पत्र–पत्रिकाएं निकलती हैं लेकिन वे ज़्यादा प्रभावशाली नहीं होती क्योंकि बिना 'मिशन' एवं 'विजन' के जो उत्पादन होता है वह सामान्य या निम्नस्तरीय होता है। ऐसी सामग्री को पढ़ने की तो छोड़िए देखने एवं छूने की इच्छा भी नहीं होती। यह कड़वा सच है। माफ़ करिए। लेकिन आपके यहां से प्रकाशित 'खोजबीन' इस घोर अंधकार में आशा की एक ताज़ा किरण है। इस ताज़ा अंक में 'भाषा' को केन्द्र में रखकर जो उच्चस्तरीय सामग्री संकलित, सम्पादित एवं प्रकाशित की गई है वह पूर्ण ईमानदारी एवं प्रतिबद्धता का अनुकरणीय उदाहरण है। सबसे अच्छी बात यह है कि इस अंक में 'भाषा' के तमाम महत्त्वपूर्ण पथों पर रोचक, ज्ञानवर्धक एवं विचारोत्तेजक सामग्री है। अगर हम अपने आसपास के तथा तथाकथित बड़े शैक्षिक घरानों, ठिकानों एवं प्रतिष्ठानों पर नज़र डालें तो लगता है वे सिर्फ़ 'ग्लोसी' पेपर पर चमक दमक दिखाकर अपना गोरख धन्धा चला रहे हैं। आपकी 'खोजबीन' वस्तुतः न सिर्फ़ कथानकों को केन्द्र में लाने का प्रयास करती है जो महत्त्वपूर्ण होकर भी दुर्भाग्य से हाशिए पर बैठने, खड़े रहने या दुबककर सांसे लेने को मज़बूर है। मेरा सुझाव है कि 'खोजबीन' के ऐसे अंकों को एनसीईआरटी, एनसीटीई, यूजीसी तथा विश्वविद्यालयों को भेजें ताकि उन्हें लगे कि बिना सरकारी सहयोग के भी इन दिनों बेहतर शैक्षिक पत्र–पत्रिकाएं निकाली जा रही है। वैश्वीकरण के इस दौर में शिक्षा में गुणवत्ता के लिए ऐसे साहसी प्रकाशन की जितनी प्रशंसा की जाए वह कम है।

मेरा यह भी सुझाव है कि आगे के अंकों को आप 'अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा कानून', पड़ोसी विद्यालय', कॉमन स्कूल', शिक्षा का माध्यम, शांति शिक्षा, उच्च शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, ग्रामीण शिक्षा, शिक्षा एवं राष्ट्रीय विकास, जैसे तमाम विषयों पर निकालें।

इस अंक के शानदार प्रकाशन की पुनः बधाई एवं आगे के अंकों के लिए हार्दिक शुभकामनाएं।

ए.के. पालीवाल
विद्या भवन गो. से. शिक्षक महाविद्यालय
उदयपुर

प्रिय हार्डी,

मेरी पिछली यात्रा के समय आपने ''खोजबीन'' और ''बुनियादी शिक्षा'' के कुछ अंक दिए थे। उन्हें पढ़कर मालूम हुआ कि विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र कितना व्यापक और अच्छा कार्य कर रहा है। इस सामग्री से अवगत कराने के लिए बहुत धन्यवाद।

''विद्या भवन खोज खबर'' शायद विद्या भवन का न्यूज लैटर है। मैं विद्या भवन का आजीवन सदस्य हूं इसलिए शायद इस न्यूज लैटर की प्रति नियमित आधार पर पाने का पात्र हूं।

आपके कुछ साथियों से मिलकर और संदर्भ केन्द्र की इमारत देखकर बहुत अच्छा लगा।

अनिल बोर्दिया
चेयरमेन एवं मुख्य संचालक
फाउण्डेशन ऑफ एज्यूकेशन एण्ड डवलपमेंट, जयपुर

'खोजबीन' अंक 7–8 मिला, शानदार। भाषा और शिक्षा और अध्यापन के अंतर्संबंधों पर ऐसा काम इधर मेरे देखे नहीं हुआ। आपने तरह–तरह से सारे मसले पर विचार किया है जो वाकई पठनीय है। हृदय कांत दीवान के आलेख में यह बात ठीक है कि बालक की भाषा का सम्मान होगा तभी वह स्वयं से खोजना सीख पाएगा। इस रटन्त दौर में यह खोज बची रही तो कई चीज़ें भी बच जाएंगी।

इस बौद्धिक दावत का तहेदिल से शुक्रिया।

पल्लव
बनास
403, बी–3, वैशाली अपार्टमेंट्स सेक्टर–4
उदयपुर–133001

'खोजबीन' का संयुक्तांक 7–8 मिला। आद्योपान्त पढ़ा। भाषा के अधिगम के बारे में आपने काफ़ी सामग्री इस अंक में जुटा दी है। मुझे लगता है राजस्थान की यह पहली पत्रिका है जो किसी शैक्षिक मुद्दे को लेकर इतनी गंभीर और खोजपूर्ण सामग्री सुधी पाठकों को दे रही है। पहले कभी राजस्थान के शिक्षा विभागीय प्रकाशन 'नया शिक्षक' में ऐसा करने का प्रयास किया जाता था। उसे बन्द हुए कई साल बीत चुके हैं। आपकी पत्रिका उसी परम्परा को आगे बढ़ा रही है। यह देखकर मेरे जैसे पाठक आपके अभारी हैं।

ग्रन्थशिल्पी से प्रकाशित शिक्षा संबंधी पुस्तकों का मैं रिव्युअर हूं और प्रायः सभी इस तरह की पुस्तकों को मैं पढ़ चुका हूं और उनपर इधर–उधर लिख भी चुका हूं। जेम्स ब्रिटन की 'भाषा और अधिगम' की मेरी समीक्षा 'शिक्षा विमर्श' में छप चुकी है।

'खोजबीन' के एक दो अंक देखने के बाद मैं भी इसके लिए कुछ लिखने की कोशिश करूंगा। फिलहाल इस अंक को भेजने के लिए धन्यवाद।

सुरेश पंडित
लेखक एवं समाजकर्मी
383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर– 313001

विज्ञान शिक्षण पर अन्तर्राष्ट्रीय सेमीनार
का
दस्तावेज़

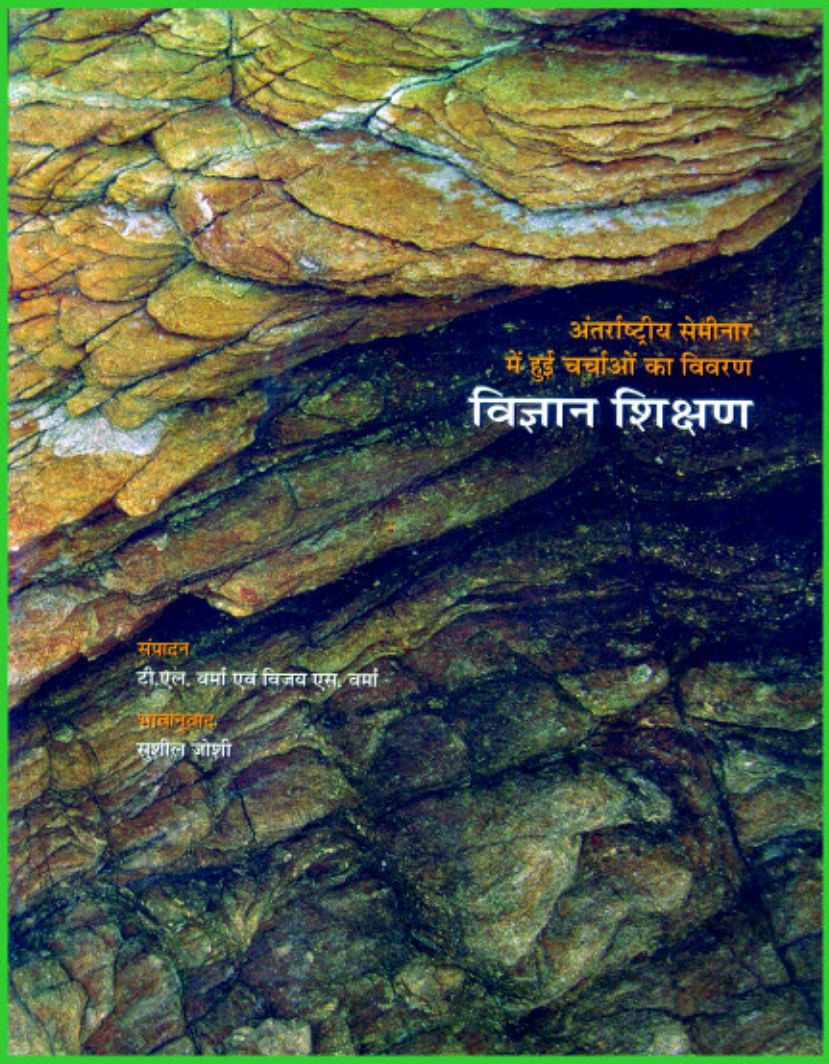

मूल्य : तीन सौ रुपए

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र

फतहपुरा, मोहनसिंह मेहता मार्ग

उदयपुर (राज.) 313 004

फोन : (0294) 2451497

Email : vbsudr@yahoo.com

धापू

के.आर. शर्मा

छह–सात महीने की हुई धापू
धीरे–धीरे बैठना सीख गई!

दस–ग्यारह महीने की हुई धापू
धीरे–धीरे चलना सीख गई!

दौड़ती–गिरती–उठती–दौडती
तुतलाती जबान में बतियाती धापू

धापू बकरी को कुत्ता समझने की गलती नहीं करती
वह तो गली–मोहल्ले भर की पहचान रखती

एक दिन, धापू स्कूल गई
स्कूल में खूब खेलती, मजे करती

मास्साब धापू के साथ किस्सागोई करते
कंकड़ों, बीजों, पत्तों, फूलों, कागज़ के टुकड़ों में रमती

कभी किताबों को उलट–पलट करती
कभी मुंडेर पर संभलते हुए चलती

कभी किताबों में झांकती
कभी रंग–रोगन करती

मास्साब मन ही मन सोचते
बच्ची कितनी दक्ष है

मास्साब सोचते
सीखने की ताकत कुचल न जाए।

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर में कार्यरत। खोजबीन की संपादन प्रक्रिया में संलग्न।